चरित्र-निर्माण

लेखक
सत्यकाम विद्यालङ्कार

राजपाल एण्ड सन्ज़
नई सड़क : : दिल्ली

मूल्य
दो रुपया आठ आना

मुद्रक—राजहंस प्रेस, दिल्ली

विषय-सूची

चरित्र-निर्माण

इस पुस्तक का प्रयोजन

हर फूल का अपना अपना रंग-रूप है, हर मनुष्य का अपना अपना व्यक्तित्व। वह व्यक्तित्व ही मनुष्य की पहचान है। कोटि-कोटि मनुष्यों की भीड़ में भी वह अपने निराले व्यक्तित्व के कारण पहचान लिया जायगा। यही उसकी विशेषता है। यही उसका व्यक्तित्व है।

प्रकृति का यह आश्चर्यजनक नियम है कि एक मनुष्य की आकृति दूसरे से भिन्न है। हर मनुष्य अन्य मनुष्यों के कुछ समान गुणों के साथ पैदा होता है किन्तु किसी भी अन्य मनुष्य के सम्पूर्ण सदृश पैदा नहीं होता। आकृति का यह जन्मजात भेद आकृति तक ही सीमित नहीं है। उसके स्वभाव, संस्कार और उसकी प्रवृत्तियों में भी यही असमानता रहती है।

इस असमानता में ही सृष्टि का सौन्दर्य है। प्रकृति हर पल अपने को नये रूपों में सजाती है। नया दिन नित्य नई ज्योति के साथ प्रकाशित होता है। हमारी आंखें इस प्रतिपल होने वाले परिवर्तन को उसी तरह नहीं देख सकतीं, जिस तरह हम एक गुलाब के फूल में और दूसरे में कोई अन्तर नहीं कर सकते। परिचित वस्तुओं में ही हम इस भेद की पहचान आसानी से कर सकते हैं। यह हमारी दृष्टि का दोष है कि हमारी आंखें सूक्ष्म भेद को और प्रकृति के सूक्ष्म परिवर्तनों को नहीं परख पातीं।

मनुष्य-चरित्र को परखना भी बड़ा कठिन कार्य है, किन्तु असंभव नहीं है। कठिन वह केवल इसलिये नहीं है कि उसमें विविध तत्वों का मिश्रण है बल्कि इसलिये भी है कि नित्य नई परिस्थितियों के आघात-प्रतिघात से वह बदलता रहता है। वह चेतन वस्तु है। परिवर्तन उसका

स्वभाव है। प्रयोगशाला की परीक्षण-नली में रखकर उसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता। उसके विश्लेषण का प्रयत्न सदियों से किया जा रहा है। हज़ारों वर्ष पहले हमारे विचारकों ने उसका विश्लेषण किया था। आज के मनोवैज्ञानिक भी इसी प्रयत्न में लगे हुए हैं। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि मनुष्य-चरित्र का कोई भी सन्तोषजनक विश्लेषण हो सका है।

इस पुस्तक का उद्देश्य चरित्र का विश्लेषण करना या विश्लेषण के परिणामों की आलोचना करना नहीं है। इसका प्रयोजन केवल चरित्र-निर्माण के उपायों पर इस रीति से प्रकाश डालना है कि व्यावहारिक जीवन में उसका उपयोग हो सके। इसलिये यहां हम यही विचार करेंगे कि चरित्र शब्द से हमारा क्या अभिप्राय होगा।

चरित्र शब्द मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रगट करता है।

अपने को पहचानो

'अपने को पहचानो' शब्द का वही अर्थ है जो 'अपने चरित्र को पहचानो' का है। उपनिषदों ने जब कहा था: "आत्मावारे श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यः, नान्यतोऽस्ति विजानतः" तब इसी दुर्बोध मनुष्य-चरित्र को पहचानने की भी प्रेरणा की थी। यूनान के महान् दार्शनिक सुकरात ने भी पुकार पुकार कर यही कहा था "Know Thyself", "अपने को पहचानो"।

विज्ञान ने मनुष्य शरीर को पहचानने में बहुत सफलता पाई है। किन्तु उसकी आन्तरिक प्रयोगशाला अभी तक एक गूढ़ रहस्य बनी हुई है। इस दीवार के अन्दर की मशीनरी किस तरह काम करती है, इस प्रश्न का उत्तर अभी तक अस्पष्ट कुहरे में छिपा हुआ है। जो कुछ हम जानते हैं वह केवल हमारी बुद्धि का अनुमान है। प्रामाणिक रूप से हम यह नहीं कह सकते कि यही सच है। इतना ही कहते हैं कि इससे अधिक स्पष्ट उत्तर हमें अपने प्रश्न का नहीं मिल सका है।

अपने को पहिचानने की इच्छा होते ही हम यह जानने की कोशिश

करते हैं कि हम किन बातों में अन्य मनुष्यों से भिन्न हैं। भेद जानने की यह खोज हमें पहले यह जानने को विवश करती है कि किन बातों में हम दूसरों के समान हैं। समानताओं का ज्ञान हुए बिना भिन्नता का या अपने विशेष चरित्र का ज्ञान नहीं हो सकता।

हमारी जन्मजात प्रवृत्तियां

मनोविज्ञान ने यह पता लगाया है कि प्रत्येक मनुष्य कुछ प्रवृत्तियों के साथ जन्म लेता है। ये स्वाभाविक, जन्मजात प्रवृत्तियां ही मनुष्य की प्रथम प्रेरक होती हैं। मनुष्य होने के नाते प्रत्येक मनुष्य को इन प्रवृत्तियों की परिधि में ही अपना कार्यक्षेत्र सीमित रखना पड़ता है। इन प्रवृत्तियों का सच्चा रूप क्या है, ये संख्या में कितनी हैं, इनका सन्तुलन किस तरह होता है, ये रहस्य अभी पूरी तरह स्पष्ट नहीं हो पाये हैं। फिर भी कुछ प्राथमिक प्रवृत्तियों का नाम प्रामाणिक रूप से लिया जा सकता है। उन में से कुछ ये हैं :

करना, हंसना, अपनी रक्षा करना, नई बातें जानने की कोशिश करना, दूसरों से मिलना-जुलना, अपने को महत्त्व में लाना, संग्रह करना, पेट भरने के लिये कोशिश करना, भिन्न योनि से भोग की इच्छा। इन प्रवृत्तियों की वैज्ञानिक परिभाषा करना बड़ा कठिन काम है। इनमें से बहुत सी ऐसी हैं जो जानवरों में भी पाई जाती हैं। किन्तु कुछ भावनात्मक प्रवृत्तियां ऐसी भी हैं जो पशुओं में नहीं हैं। वे केवल मानुषी प्रवृत्तियां हैं। संग्रह करना, स्वयं को महत्त्व में लाना, रचनात्मक कार्य में सन्तोष अनुभव करना, दया दिखाना, करुणा करना आदि कुछ ऐसी भावनायें हैं जो केवल मनुष्य में होती हैं।

प्रवृत्तियों की व्यवस्था करना ही चरित्र-निर्माण की प्रस्तावना है

बीजरूप से ये प्रवृत्तियां मनुष्य के स्वभाव में सदा रहती हैं। फिर भी मनुष्य इनका गुलाम नहीं है। अपनी बुद्धि से वह इन प्रवृत्तियों की ऐसी व्यवस्था कर लेता है कि उसके व्यक्तित्व को उन्नत बनाने में ये प्रवृत्तियां सहायक हो सकें। इस

व्यवस्था के निर्माण में ही मनुष्य का चरित्र बनता है। यही चरित्र-निर्माण की भूमिका है। अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों का ऐसा सन्तुलन करना कि वे उसकी कार्यशक्ति का दमन न करते हुए उसे कल्याण के मार्ग पर चलाने में सहायक हों, यही आदर्श व्यवस्था है और यही चरित्र-निर्माण की प्रस्तावना है।

इसी व्यवस्था का नाम योग है

इसी सन्तुलन को हमारे शास्त्रों में 'समत्व' कहा है। यही योग है। "समत्वं योग उच्यते"। यही वह योग है जिसे "योगः कर्मसु कौशलम्" कहा है। प्रवृत्तियों में सन्तुलन करने का यह कौशल ही वह कौशल है जो जीवन के हर कार्य में सफलता देता है। इसी सम-बुद्धि व्यक्ति के लिये गीता में कहा है :

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते!
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

यह सन्तुलन मनुष्य को स्वयं करना होता है। इसीलिये हम कहते हैं कि मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं स्वामी है। वह अपना चरित्र स्वयं बनाता है।

चरित्र किसी को उत्तराधिकार में नहीं मिलता। अपने माता-पिता से हम कुछ व्यावहारिक बातें सीख सकते हैं किन्तु चरित्र हम अपना स्वयं बनाते हैं। कभी कभी माता-पिता और पुत्र के चरित्र में समानता नज़र आती है; वह भी उत्तराधिकार में नहीं बल्कि परिस्थितियों वश पुत्र में आ जाती है।

परिस्थितियों के प्रति हमारी मानसिक प्रतिक्रिया ही चरित्र का आधार बनती है

कोई भी बालक अच्छे या बुरे चरित्र के साथ पैदा नहीं होता। हां, वह अच्छी बुरी परिस्थितियों में अवश्य पैदा होता है। यह परिस्थितियां अवश्य उसके चरित्र-निर्माण में भला-बुरा असर डालती हैं।

कई बार तो एक ही घटना मनुष्य के जीवन को इतना प्रभावित कर देती है कि उसका चरित्र ही पलट जाता है। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण ही बदल जाता है। निराशा का एक झोंका उसे सदैव के लिये निराशावादी बना देता है या अचानक आशातीत सहानुभूति का एक काम उसे सदा के लिये करुण और परोपकारी बना देता है। यही हमारी प्रकृति बन जाती है। इसलिये यही कहना ठीक होगा कि परिस्थितियां हमारे चरित्र को नहीं बनातीं बल्कि उनके प्रति जो हमारी मानसिक प्रतिक्रियायें होती हैं उन्हीं से हमारा चरित्र बनता है। प्रत्येक मनुष्य के मन में एक ही घटना के प्रति जुदा-जुदा प्रतिक्रिया होती है। एक साथ रहने वाले बहुत से युवक एक-सी परिस्थितियों में से गुजरते हैं। किन्तु उन परिस्थितिओं को प्रत्येक युवक भिन्न दृष्टि से देखता है; उनके मन में अलग अलग प्रतिक्रियायें होती हैं। यही प्रतिक्रियायें हमें अपने जीवन का दृष्टिकोण बनाने में सहायक होती हैं। इस प्रतिक्रिया का प्रगट रूप वह है जो उस परिस्थिति के प्रति हम कार्य रूप में लाते हैं। एक भिखारी को देखकर एक के मन में दया जागृत हुई, दूसरे के मन में घृणा। दयार्द्र व्यक्ति उसे पैसा दे देगा, दूसरा उसे दुत्कार देगा या स्वयं वहां से दूर हट जायगा। किन्तु यहीं तक इस प्रतिक्रिया का प्रभाव नहीं होगा। यह तो उस प्रतिक्रिया का बाह्य रूप है। उसका प्रभाव दोनों के मन पर भी जुदा-जुदा होगा। इन्हीं नित्य-प्रति के प्रभावों से चरित्र बनता है। यही चरित्र बनने की प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया में कुछ लोग संशयशील बन जाते हैं कुछ आत्मविश्वासी; कुछ शारीरिक भोगों में आनन्द लेने वाले विलासी बन जाते हैं और कुछ नैतिक सिद्धान्तों पर दृढ़ रहने वाले तपस्वी बन जाते हैं; कुछ लोग तुरन्त लाभ की इच्छा करने वाले अधीर बन जाते हैं और दूसरे ऐसे बन जाते हैं जो धैर्य पूर्वक काम के परिणाम की प्रतीक्षा कर सकते हैं।

यह प्रक्रिया बचपन से ही शुरू होती है। जीवन के तीसरे वर्ष से ही बालक अपना चरित्र बनाना शुरू कर देता

बच्चे को भी आत्मनिर्णय का अधिकार है

है। सब बच्चे जुदा जुदा परिस्थितियों में रहते हैं; उन परिस्थितियों के प्रति मनोभाव बनाने में भिन्न-भिन्न चरित्रों वाले माता-पिता से बहुत कुछ सीखते हैं। अपने अध्यापकों से या अपने संगी साथियों से भी सीखते हैं। किन्तु जो कुछ भी वह देखते हैं, या सुनते हैं, सभी कुछ ग्रहण नहीं कर सकते। वह सब इतना परस्पर विरोधी होता है कि उसे ग्रहण करना सम्भव नहीं होता। ग्रहण करने से पूर्व उन्हें चुनाव करना होता है। स्वयं निर्णय करना होता है कि कौन से गुण ग्राह्य हैं, कौन से त्याज्य। यही चुनाव का अधिकार बच्चे को भी आत्मनिर्णय का अधिकार देता है।

इसीलिये हम कहते हैं कि हम परिस्थितियों के दास नहीं बल्कि उन परिस्थितियों के प्रति हमारी मानसिक प्रतिक्रिया ही हमारे चरित्र का निर्माण करती है। हमारी निर्णयात्मक चेतनता जब पूरी तरह जागृत हो जाती है और हमारे नैतिक आदर्शों को पहचानने लगती है तो हम परिस्थितियों की ज़रा भी परवाह नहीं करते। आत्मनिर्णय का यह अधिकार ईश्वर ने प्रत्येक मनुष्य को दिया है। अन्तिम निश्चय हमने स्वयं करना है। तभी तो हम अपने मालिक आप हैं, अपना चरित्र स्वयं बनाते हैं।

ऐसा न हो तो जीवन में संघर्ष ही न हो। परिस्थितियां स्वयं हमारे चरित्र को बना दें। हमारा जीवन कठपुतली की तरह बाह्य घटनाओं का गुलाम हो जाए। सौभाग्य से ऐसा नहीं है। मनुष्य स्वयं अपना स्वामी है। अपना चरित्र वह स्वयं बनाता है। चरित्र-निर्माण के लिये उसे परिस्थितियों को अनुकूल या सबल बनाने की नहीं बल्कि आत्म-निर्णय की शक्ति को प्रयोग में लाने की आवश्यकता है।

किन्तु आत्मनिर्णय की शक्ति का प्रयोग तभी होगा, यदि हम आत्मा को इस योग्य रखने का यत्न करते रहेंगे

प्रवृत्तियों को रचनात्मक कार्यों में लगाना चरित्र-निर्माण की नींव डालना है

कि वह निर्णय कर सके। निर्णय के अधिकार का प्रयोग तभी हो सकता है यदि उसके अधीन कार्य करने वाली शक्तियां उसके वश में हों। शासक अपने निर्णय का प्रयोग तभी कर सकता है यदि अपनी प्रजा उसके वश में हो। इसी तरह यदि हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियां हमारे वश में होंगी तभी हम आत्मनिर्णय कर सकेंगे। एक भी प्रवृत्ति विद्रोही हो जाय, स्वतन्त्र विहार शुरू कर दे, तो हमारी सम्पूर्ण नैतिक व्यवस्था भंग हो जायगी। इसलिये हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियां ही हमारे चरित्र की सब से बड़ी दुश्मन हैं। उन्हें वश में किये बिना चरित्र-निर्माण का कार्य प्रारम्भ नहीं हो सकता। नैतिक-जीवन प्रारम्भ करने से पूर्व हमें उनकी बागडोर अपने हाथ में लेनी होगी। उन्हें व्यवस्था में लाना होगा। इसका यह अभिप्राय नहीं कि उन प्रवृत्तियों को मार देना होगा। उन्हें मारना न तो सम्भव ही है और न हमारे जीवन के लिये अभीष्ट ही। हमें उनकी दिशा में परिवर्तन करके रचनात्मक कार्यों में लगाना है। वह प्रवृत्तियां उस जलधारा की तरह हैं जिसे नियन्त्रण में लाकर खेत सींचे जा सकते हैं विद्युत् भी पैदा की जा सकती है और जो अनियन्त्रित रहकर बड़े-बड़े नगरों को भी बरबाद कर सकती है।

इन प्रवृत्तियों का संयम ही चरित्र का आधार है। । संयम के बिना मनुष्य शुद्ध विचार नहीं कर सकता, प्रज्ञावान् नहीं बनता। गीता में कहा गया है "वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता"। इन्द्रियों

स्थितप्रज्ञ कौन है?

की प्रवृत्तियां जिसके वश में हों—उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है। प्रज्ञा तो सभी मनुष्यों में है। बुद्धि का वरदान मनुष्यमात्र को प्राप्त है। किन्तु प्रतिष्ठित-प्रज्ञ, या स्थित-प्रज्ञ वही होगा जिसकी प्रवृत्तियां उसके वश में होंगी। इस तरह की सबल प्रज्ञा ही आत्म-निर्णय का अधिकार

रखती है। यही प्रज्ञा है जो परिस्थितियों की दासता स्वीकार न करके मनुष्य का चरित्र बनाती है। जिसकी बुद्धि स्वाभाविक प्रवृत्तियों, विषय-वासनाओं को वश में नहीं कर सकेगी वह कभी सच्चरित्र नहीं बन सकता।

बुद्धिपूर्वक संयम ही संयम की व्यवस्था है

यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि हम बुद्धि के बल पर ही प्रवृत्तियों का संयम कर सकते हैं। जीवन के समुद्र में जब प्रवृत्तियों की आंधी आती है तो केवल बुद्धि के मस्तूल ही हमें पार लगाते हैं। विषयों को मैंने आंधी कहा है, इनमें आंधी का वेग है और इनको काबू करना बड़ा कठिन है—इसीलिये यह कहा है। अन्यथा इनमें आंधी की क्षणिकता नहीं है। प्रवृत्तियों के रूप में वे विषय सदा मनुष्य में रहते हैं। उसी तरह जैसे पवन के रूप में आंधी आकाश में रहती है। वही पवन जब कुछ आकाशी तत्वों के विशेष सम्मिलन के कारण तीव्र हो जाता है तो आंधी बन जाता है। हमारी प्रवृत्तियां भी जब भावनाओं के विशेष मिश्रण में तीव्र हो जाती हैं तो तीव्र वासनायें बन जाती हैं। उनका पूर्ण दमन नहीं हो सकता। बुद्धि द्वारा उन्हें कल्याणकारी क्रियाओं में प्रवृत्त ही किया जा सकता है; उनका संयम किया जा सकता है।

संयम की कठिनाइयां

संयम शब्द जितना साधारण हो गया है, उसे क्रियात्मिक सफलता देना उतना ही कठिन काम है। इस कठिनाई के कारण हैं। सबसे मुख्य कारण यह है कि जिन प्रवृत्तियों को हम संयत करना चाहते हैं वे हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियां हैं। उनका जन्म हमारे जन्म के साथ हुआ है। हम उनमें अनायास प्रवृत्त होते हैं। इसलिए वे बहुत सरल हैं। इसके अतिरिक्त उनका अस्तित्व हमारे लिये आवश्यक भी है। उन प्रवृत्तियों के बिना हम कोई भी चेष्टा नहीं कर सकते। उनके बिना हम निष्कर्म हो जायंगे। निष्कर्म ही नहीं हम असुरक्षित भी हो

जायंगे। प्रत्येक स्वाभाविक प्रवृत्ति इसी सुरक्षा और प्रेरणा की संदेशहर होती है। उदाहरण के लिये भय की भावना को लीजिये। हम भयभीत तभी होते हैं जब किसी प्रतिकूल शक्तिशाली व्यक्ति या परिस्थिति से युद्ध करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। उस समय भय की भावना हृदय में जागती है और हमें कैसे भी हो, भागकर, छिपकर या किसी भी छल-बल द्वारा अपनी रक्षा करने को प्रेरित करती है। यदि हम इस तरह बच निकलने का उपाय न करें तो जान से हाथ धो बैठें अथवा किसी मुसीबत में पड़ जाएं। भय हमें आने वाले विनाश से सावधान करता है। भय ही हमें यह बतलाता है कि अब यह रास्ता बदल कर नया रास्ता पकड़ो। हम कुछ देर के लिये सहम जाते हैं। प्रत्युत्पन्नमति लोग नये रास्ते का अवलम्ब लेकर भय के कारणों से बच निकलते हैं। उन्हें अपनी परिस्थिति की कठिनाइयों का नया ज्ञान हो जाता है। उन नई कठिनाइयों पर शान्ति से विचार करके वे नया समाधान सोच लेते हैं।

अतः भय के हितकारी प्रभाव से हम इन्कार नहीं कर सकते। किन्तु इस प्रभाव को अस्थायी मानकर इसे

भय का भी प्रयोजन है

क्षणिक महत्व देना ही उपयुक्त है। यदि यह भय हमारे स्वभाव में आ जाय तो हम सदा असफल होने की भावना से ग्रस्त हो जायंगे। भय का अर्थ क्षणिक असफलता का दिग्दर्शन और नये उद्योग की प्रेरणा होना चाहिये। नई प्रेरणा से मन में नया उत्साह पैदा होगा। जिस तरह शेर पीछे हटकर हमला करता है, मनुष्य ऊँची छलांग मारने के लिए नीचे झुकता है उसी तरह भय से नई स्फूर्ति और नया संकेत लेने के बाद जब वह नया पुरुषार्थ करने का संकल्प करेगा तभी भय भाग जायगा।

निरन्तर असफलता और प्रतिकूलताओं से युद्ध करने की अशक्तता हमारे भय को स्थायी बना देती है। तब

जब हमारा भय स्थायी बन जाता है

हम छोटी से छोटी प्रतिकूलता से भी भयभीत होने लगते हैं। अज्ञानवश हम इन भयप्रद परिस्थितियों को और भी विशाल रूप देते जाते हैं। हमारा अज्ञान हमारे भय का साथी बन जाता है। जिन्हें बादलों में बिजली की कड़क का वैज्ञानिक कारण मालूम नहीं वे यह कल्पना कर लेते हैं कि दो अलौकिक दैत्य आकाश में भीमकाय गदाओं से युद्ध कर रहे हैं। बिजली का भय उनके लिये अजेय हो जाता है। अनेक प्राकृतिक घटनाओं को भूतों-प्रेतों की लड़ाइयां मानकर हम सदा भयातुर रहने का अभ्यास डाल लेते हैं। सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण, पुच्छलतारा, महामारी, आदि अनेक भौतिक घटनायें पहले भयानक मानी जाती थीं। विज्ञान ने जब से यह सिद्ध कर दिया कि ये घटनाएं मनुष्य के लिये विनाशक नहीं हैं, तब से संसार के बहुत-से भयों का निराकरण हो गया है।

हम भय की पूजा शुरू कर देते हैं

किन्तु, जिन वैज्ञानिकों ने मनुष्य को इन मिथ्या भयों से छुटकारा देने का यत्न किया था उन्हें मृत्यु- दण्ड तक दिया गया था। बात यह है कि भय की यह भावना मनुष्य को कुछ अलौकिक शक्तियों पर श्रद्धा रखने की प्रेरणा देती है। श्रद्धा में आनन्द है। वही आनन्द भय पैदा करने वाली वस्तुओं पर श्रद्धा रखने में आने लगता है। इसलिये हमें अपना भय भी आनन्दप्रद हो जाता है। मनुष्य की वे मनोभावनायें, जो उसे कमज़ोर बनाती हैं, जब आनन्दप्रद हो जायं तो समझना चाहिये कि हमारा रोग असाध्य नहीं तो दुःसाध्य अवश्य हो गया है। भय से बचने के उपाय सोचने के स्थान पर मनुष्य जब भय की पूजा शुरू कर दे तो भय से मुक्ति की आशा बहुत कम रह जाती है। उस समय, भय की प्रवृत्ति मनुष्य को वश में कर लेती है। हमारा ध्येय यह है कि मनुष्य भय की प्रवृत्ति को वश में करे न कि यह उसका गुलाम बन जाए।

मनुष्य भय की प्रवृत्ति का दास किस तरह बन जाता है ? यह भी एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन है । अगर एक पागल कुत्ता आपका पीछा करता है तो निश्चय ही आपको उस कुत्ते से डर लगने लगता है । और आपको उससे डरने की आदत पड़ जाती है । यह आदत बड़ी युक्तियुक्त है । उसका इतना ही मतलब है कि आपको उस पागल कुत्ते को काबू में करने का उपाय मालूम नहीं है ।

जब भय का भूत विशाल होता जाता है

किन्तु जब आपको दूसरे कुत्तों से भी भय मालूम होने लगे तो समझ लीजिये कि भय की आदत आपको वश में करने लगी है । जब तक आपको दूसरे कुत्तों के पागल होने का निश्चय न हो तब तक आपको भयातुर नहीं होना चाहिये । किन्तु देखा यह गया है कि कमजोर दिल के आदमी पागल कुत्ते से डरने के बाद सभी कुत्तों से डरना शुरू कर देते हैं । यह डर बढ़ता-बढ़ता यहां तक पहुँच जाता है कि उसे हर चौपाये से डर लगना शुरू हो जाता है । इस भय को वश में न किया जाय तो उसे भयावह वस्तु से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु से ही भय प्रतीत होने लगता है । मेरे एक मित्र का एक बार अंधेरे कमरे में किसी चीज़ से सिर टकरा गया । उसके बाद उन्हें न केवल उस चीज़ से बल्कि अन्धकार से भी डर लगने लगा । भयावह वस्तु के साथ उसकी याद दिलाने वाली हर चीज़ से भी डर लगने लगता है ।

भय का यह क्षेत्र बहुत बढ़ता जाता है । और इसका प्रभाव भी मनुष्य के चरित्र पर स्थायी होता जाता है । दुर्भाग्य से यदि उसे भयजनक अनेक परिस्थितियों में एक साथ गुजरना पड़ता है तो वह सदा के लिए भयभीत हो जाता है । जीवन का हर क्षण उसे मृत्यु का संदेश देता है । हवा की मधुर मरमर में उसे तूफान का भयंकर गर्जन सुनाई देने लगता है और पत्तों के हिलने में प्रलय के तांडव का दृश्य दिखाई देता है । उसका मन सदा विक्षिप्त रहता है । ऐसा व्यक्ति जीवन में कभी सफल नहीं होता ।

निर्भय होने का संकल्प ही भय को जीतने का उपाय है

इस भय का निवारण कैसे हो ? हमारे शास्त्रों में ईश्वर से प्रार्थना की गई है—

"अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्"

यह प्रार्थना ही मनुष्य को अभयदान नहीं दे सकती। ईश्वर ने मनुष्य को भय पर विजय पाने का साधन पहले ही दिया हुआ है। जिस तरह मनुष्य में प्रतिकूलता से डरने की प्रवृत्ति है उसी तरह प्रतिकूलताओं से युद्ध करने की और अपनी प्रतिष्ठा रखने की प्रवृत्ति भी है। इन प्रवृत्तियों को जागृत करके मनुष्य जब भय पर जीतने का संकल्प कर ले तो वह स्वयं निर्भय हो जाता है। मनुष्य की एक प्रवृत्ति दूसरी प्रवृत्ति का सन्तुलन करती रहती है। जिस तरह प्रवृत्तियां स्वाभाविक हैं उस तरह सन्तुलन भी स्वाभाविक प्रक्रिया है। प्राकृतिक अवस्था में यह कार्य स्वयं होता रहता है। किन्तु हमारा जीवन केवल प्राकृतिक अवस्थाओं में से नहीं गुजरता। विज्ञान की कृपा से हमारा जीवन प्रतिदिन अप्राकृतिक और विषम होता जाता है। हमारी परिस्थितियां असाधारण होती जाती हैं। हमारा जीवन अधिक साहसिक और बेबात् होता जाता है। संघर्ष बढ़ता ही जाता है। जीवित रहने के लिये भी हमें जान लड़ा कर कोशिश करनी पड़ती है। जीने की प्रतियोगिता में केवल शक्तिशाली ही जीतते हैं। 'Surrival of the fittest', योग्यतम को ही जीने का अधिकार है, इस स्थापना से प्रत्येक साधारण व्यक्ति को प्राणों का भय लगा रहता है। यह भय हमारी नस-नस में समा गया है।

असफलता का भय मनुष्य को निश्चेष्ट बना देता है

कोई भी काम प्रारम्भ करने का संकल्प करने से पहले असफलता का भय हमारी इच्छा-शक्ति को शिथिल करने के लिये पैदा हो जाता है। कर्ममार्ग की कठिनाइयों का वर्णन करते हुए उपनिषदें कहती हैं: "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गम्पथस्तत्कवयो वदन्ति" अर्थात् छुरे की धार की

तरह तेज और दुर्गम है कर्म का मार्ग । दूसरे कहते हैं "गहना कर्मणो गतिः" । परन्तु वह काम इतना गहन या छुरे की धार की तरह तेज़ नहीं होता जितना उस काम में असफलता का डर होता है ।

असफलता का यह भय मनुष्य के मन को संशयशील ही नहीं बनाता बल्कि सच्चे रास्ते पर चलने में भी बाधक बन जाता है । सच्चा रास्ता बड़ा अस्पष्ट शब्द है । हमारा अभिप्राय सच्चे रास्ते से यह है कि जिस रास्ते पर मनुष्य चलने का विचार करता है । विवेक द्वारा उस रास्ते पर चलने का निश्चय करने के बाद भी वह चल पड़ता है उल्टे रास्ते पर । इसे संभ्रम कहिये, स्मृतिविभ्रम कहिये या दीवानापन । एक ही अर्थ के कई वाचक शब्द हैं ये । गीता में इसी स्मृति-विभ्रम से बुद्धिनाश और उसके बाद विनाश की चेतावनी भगवान् कृष्ण ने दी है । "मैं धर्म को जानता हूँ, किन्तु मेरी प्रवृत्ति नहीं होती, मैं पाप को जानता हूँ किन्तु उस से निवृत्ति नहीं पा सकता *।" यह मनोवस्था हो जाती है उस व्यक्ति की जो कार्य करने से पूर्व ही उसकी असफलता के भय से विचलित हो जाता है । मन की यह स्थिति यदि निरन्तर कुछ देर तक रहे तो मनुष्य की मानसिक स्नायुग्रन्थियां बहुत निर्बल होकर अपना कार्य बन्द कर देती है । चेतनबुद्धि अपना काम करना ही बन्द कर देती है । इसे ही Nervous breakdown मानसिक निश्चेष्टता कहते हैं ।

मानसिक द्वन्द्व स्वाभाविक क्रिया है

मनुष्य का मानसिक द्वन्द्व यदि वह जाग्रत चेतनाओं में है—कभी मानसिक निश्चेष्टता का कारण नहीं बनता । यदि कोई आदमी अपने कोट के कपड़े का रंग पसन्द नहीं कर पाता या अपने किसी भी कार्य की शैली का निश्चय नहीं कर पाता

---

* जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः
—महाभारत

तो उसका स्नायु स्वस्थ नहीं होगा। असंशय की इस अवस्था का प्रभाव उसकी कार्यशक्ति पर या मनोबल पर अवश्य पड़ता है किन्तु मन की चेतनता विलुप्त नहीं होती। यह तभी होता है जब उसे अपने मानसिक द्वन्द्व की प्रकृति का भी पूरा ज्ञान न हो। ऐसा व्यक्ति कभी अपने ध्येय की ओर प्रगति नहीं करता। चौराहे पर खड़ा हुआ वह सोचता है कि किधर जाऊँ। उसे मालूम है कि उत्तर दिशा के रास्ते पर जाने सें वह अपने गन्तव्य स्थान पर शीघ्र पहुँच जायगा। किन्तु क्योंकि पूर्व दिशा का रास्ता कुछ आसान है इसलिये वह पूर्व की ओर जाने को तैयार हो जाता है। किन्तु उसे जाना तो उत्तर दिशा में था, इसलिये वह बीच का उत्तर-पूर्व का रास्ता पकड़ लेता है। यह रास्ता न तो उसे उसके ध्येय पर पहुँचाता है नाही वह आसान है। केवल समझौते के तौर पर उसने यह मार्ग पकड़ा है। Neurotic रोग के रोगी यही करते हैं। "मैं चाहता हूँ किन्तु कर नहीं पाता—" यह वाक्य ऐसे ही दुर्बल इच्छाशक्ति वाले मनुष्यों का प्रिय वाक्य है।

ऐसे संशयात्मा व्यक्तियों के लिये संसार में कोई स्थान नहीं है। ऐसी आत्मायें आत्म-निर्णय के अधिकार का प्रयोग नहीं कर सकतीं। ऐसे मनुष्य निर्णयात्मक-बुद्धि या व्यवसायात्मिका बुद्धि से रहित होते हैं। इन्हीं क्षीण बल और हीनचेष्ट व्यक्तियों के लिये भगवान् कृष्ण ने कहा था—"संशयात्मा विनश्यति"।

मिथ्या नैतिक भय भी मनुष्य को निर्बल बनाते हैं

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के संशय को दूर करने के लिये गीता का उपदेश दिया था। अर्जुन का संशय असफलता के भय से पैदा हुआ संशय नहीं था। असफलता से भी अधिक भयंकर रूप कई बार नैतिक भय पकड़ लेता है। कहीं यह पाप तो नहीं, समाज की दृष्टि में यह भला है या बुरा, माता-पिता इससे प्रसन्न होंगे या अप्रसन्न आदि अनेक प्रकार के नैतिक भय भी मनुष्य को निर्बल और संशयात्मा बना देते हैं।

भय को कभी चरित्र-निर्माण का आधार नहीं बनाना चाहिये।

भय प्रेरित शिक्षा, मानसिक विकास की शत्रु है

अज्ञानवश माता पिता भय दिखाकर ही अपनी सन्तान को चरित्रवान् बनाने का यत्न करते हैं। हमारी आज की शिक्षा-पद्धति का आधार ही भय है। हम भय दिखलाकर बच्चों की रचनात्मक वृत्तियों को कुचल देते हैं। मां को यह डर लगता है कि बच्चा आग से अपने को जला न ले। बच्चा जब अग्नि के पास जाता है तो वह चिल्ला उठती है "वहां न जाओ, इससे जल जाओगे।" बच्चा डर जाता है। दूर हट जाता है। किन्तु आग उसके लिये एक रहस्यमय वस्तु रह जाती है। वह अपने अनुभव से तो जानता नहीं कि आग जलाती है। वह तो इतना ही जानता है कि मां कहती है कि 'आग जलाती है।' अगर बचपन में मां ने ज़रा-सा भी जलने दिया होता तो बच्चा सचाई जान लेता और आग के प्रति उसका रुख रचनात्मक बन जाता।

ईश्वर का भय ईश्वर के प्रति घृणा भाव में बदल सकता है

मैं ऐसे बहुत से बच्चों को जानता हूँ जिनका जीवन नियन्त्रण के कारण नष्ट हो चुका है। नियन्त्रण का आधार 'भय' होता है। 'ईश्वर' और 'पाप' की भावनाओं का उद्देश्य भी बच्चों में भय पैदा करना होता है। 'ईश्वर' के भय से जिन बच्चों का चरित्र-निर्माण किया जायगा वे न केवल चरित्रहीन हो जायंगे बल्कि 'ईश्वर' से भी घृणा करने लगेंगे। भय ही घृणा को जन्म देता है। हम जिस वस्तु से डरते हैं उससे घृणा अवश्य करते हैं। जिन बच्चों में भय नहीं होता वे कभी घृणा नहीं करते। फौजी कानून के हिमायती बाप यह समझते हैं कि क्योंकि 'पिटाई से मुझे लाभ हुआ था, मेरे लड़के को भी अवश्य लाभ होना चाहिये।' मेरा विश्वास है कि ऐसे बाप अपने बच्चों से प्यार नहीं

करते। ऐसे बाप बच्चों को तरह-तरह के भय दिखलाकर उनके मन में घृणा का ज़हर भर देते हैं। वे उनकी रचनात्मक वृत्तियों को नष्ट कर देते हैं। ऐसे बच्चे कभी चरित्रवान् नहीं बनते। उनकी आत्मनिर्णय की शक्ति का बीज ही नष्ट कर दिया जाता है।

भय दिखाकर जिस काम से बच्चों को रोका जाय वह काम बच्चे ज़रूर करते हैं।

लोकापवाद का भय मनुष्य को छल-कपट सिखाता है

समाज का भय या लोकापवाद का भय भी कभी चारित्रिक विकास का कारण नहीं हो सकता। इस भय से मनुष्य का चरित्र नष्ट हो जाता है। वह ऐसे काम करता है जिन पर उसे विश्वास नहीं होता और उन कामों को आधे दिल से करता है। लोकनिन्दा या लोकस्तुति को अपना पथ दर्शक मानने वाला व्यक्ति कभी स्वतन्त्र विचारक व नेता नहीं बन सकता। ऐसे व्यक्ति लोगों की सस्ती वाह-वाही पाने के लिये अपनी यथार्थ प्रकृति को दबाते और छिपाते हैं। उनकी सब चेष्टाएं छल-कपट से भर जाती हैं। ऐसा व्यक्ति कभी सफल जीवन व्यतीत नहीं कर सकता।

भूत भविष्यत् का भय जीवन का शत्रु है

इन सबसे अधिक खतरनाक है भविष्य का भय। भविष्य की चिन्ता से सभी ग्रस्त हैं। जीव के भविष्य की चिन्ता और फिर जीवन के बाद मृत्यु की चिन्ता साधारण व्यक्तियों को भयभीत रखती है। मृत्यु के भय को दूर करने के लिये तो आत्मा के अमरत्व की कल्पना करली गई है। किन्तु जीवन की भविष्य सम्बन्धी विभीषिकाओं को दूर करने के लिये कभी पूरा प्रयत्न नहीं हुआ है। हमें भूतकाल का शोक और भविष्य की चिन्ता कभी निर्भय नहीं होने देती। बच्चे के जन्म होते ही माता पिता को उसके भविष्य का भय ग्रस्त कर लेता है। वस्तुतः यह भय सच्चा नहीं,

स्वार्थमूलक होता है। वे बच्चे के नहीं अपने भविष्य की चिन्ता करने लगते हैं। उन्हें डर यह होता है कि कहीं उन्हें ही बच्चों का भार जन्मभर न उठाना पड़े। अथवा यह भी कि जब वे अशक्त हो जायेंगे तो बच्चे उनका भार उठा सकेंगे या नहीं। वे अपने बच्चों से पहले ही आशायें करने लगते हैं। पहले से ही बच्चों के दिल में अपने मनोरथ भरने शुरू कर देते हैं और साथ ही यह भय भी कि बच्चे उन मनोरथों को शायद पूरा नहीं कर सकें। बच्चे के मन पर मां-बाप के स्वार्थपूर्ण मनोरथों का यह अस्वभाविक भय बच्चों के कोमल मन को आशंकित और भयभीत कर देता है। स्वभाव से बच्चे का मन सदा उल्लसित रहता है। उसे स्वतन्त्र विकास का अवसर दिया जाय तो वह बहुत कम भयभीत होगा। भय, शोक व चिन्ता उसे छूएंगे तक नहीं। किन्तु मां-बाप उन्हें अछूता नहीं रहने देते। उनमें अपने भय का ज़हर भर देते हैं। गुलाब की कली की तरह खिलने वाला बाल-हृदय पूरी तरह खिलने से पहले कुम्हलाने लगता है। वह भी भविष्य की आशंकाओं से हर समय कांपने लगता है।

भय से मनुष्य दुश्चिन्ताओं का पुतला बन जाता है

यह भय बड़ी-बड़ी बातों के लिये नहीं होता। हमें गाड़ी पर चढ़ना है, चढ़ने से एक क्षण पहले तक हमें यह भय लगा रहेगा कि शायद हमें गाड़ी नहीं मिलेगी। गाड़ी आने से पहले ही हमारा दिल आशंका से धड़कने लगता है। प्लेटफार्म पर खड़े सब मुसाफिर हमें अपने प्रतिद्वन्द्वी लगने लगते हैं। मन में आता है कि इन सबको कुचलती हुई गाड़ी गुज़र जाय और हम अकेले ही गाड़ी पर चढ़ने के उम्मीदवार रह जाएं। यह भय ही मनुष्य को मनुष्य का शत्रु बनाता है। भयशील व्यक्ति को अपने भय का विशेष कारण मालूम नहीं होता। फिर भी वह हर मौके पर अपनी असफलता के भय से कांपता ही रहता है; वह दुश्चिन्ताओं का पुतला बन जाता है।

भय की स्वाभाविक प्रवृत्ति का अन्य स्वाभाविक प्रवृत्तियों के साथ समन्वय न करने से ही यह अनर्थ होता है। वह प्रवृत्ति दैत्य की तरह फैलती और बढ़ती जाती है। उसकी छाया हमारे मन और हमारी आत्मा की अन्य सब प्रवृत्तियों को निर्बल बना देती है। हमारी नस-नस में भय का ही संचार हो जाता है। हमारी बुद्धि भी भय की प्रवृत्ति से पीड़ित होकर भले-बुरे, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक छोड़ देती है। हम किसी भी सम्बन्ध में कुछ निश्चय नहीं कर पाते।

मनुष्य में अनिश्चयात्मिकता क्यों आती है? हम किसी निश्चय पर पहुँचने से क्यों कतराते हैं? इसलिये, कि हमें डर होता है कि हम कहीं कोई ऐसा काम न कर बैठें जो दूसरों की आलोचना या उपहास का विषय बन जाय।

अनिश्चय बुद्धि का क्षेत्र सीमित भी हो सकता है

इस अनिश्चय-बुद्धि का क्षेत्र सीमित भी हो सकता है। एक स्त्री को केवल यही अनिश्चय भी हो सकता है कि वह किसी दावत में जाने के लिये कौन सी साड़ी पहने? जब तक कोई दूसरा आदमी उसे न सुझाये वह अपने मन में डगमगा-सी रहती है। उसे अपनी पसन्द पर भरोसा नहीं होता। और सच यह है कि वह आलोचना के भय से बचना चाहती है।

भय स्वतन्त्र निश्चय करने की प्रवृत्ति को नष्ट कर देता है

भय से बचने की यह भावना मनुष्य में इतनी प्रबल हो जाती है कि उसकी उन्नति असंभव कर देती है। कुछ लोग केवल इसलिये उत्तरदायी कामों में हाथ नहीं डालते कि वे उत्तरदायित्व के भय से बचना चाहते हैं। निरन्तर नौकरी करने के बाद कई आदमियों को स्वतन्त्र काम करने की सुविधायें मिलने पर भी वे अपना काम शुरू नहीं करते। गुलामी करते करते उनकी स्वतन्त्र निश्चय करने की शक्ति लुप्तप्राय

हो जाती है। उन्हें कोई भी स्वतन्त्र निश्चय करने में भय मालूम होता है। वे सारी उमर छोटी सी नौकरी में गुज़ार देंगे किन्तु स्वतन्त्र व्यापार नहीं करेंगे।

ऐसे भीरु व्यक्ति को हम चरित्रवान् नहीं कह सकते। निर्भयता चरित्र की पहली शर्त है। भय मनुष्य की प्रकृति में अवश्य है किन्तु अत्यधिक भय एक मानसिक रोग है। ऐसे भयग्रस्त मनुष्य की मानसिक चिकित्सा होनी चाहिये। विज्ञान ने शारीरिक चिकित्सा की बहुत सुविधायें पैदा करदी हैं किन्तु मानसिक चिकित्सा के लिये अभी बहुत कम अनुसन्धान हुए हैं।

रचनात्मक भय कल्याणकारी हो सकता है

भय स्वयं में कोई व्याधि नहीं है। भय की प्रवृत्ति मनुष्य के कल्याण के लिये ही होती है। प्रकृति के प्रकोप से भयभीत होकर ही मनुष्य ने अपनी संरक्षा के लिये मकान बनाये, सर्दी के भय से बचने के लिये वस्त्रों का आविष्कार किया, भूख के भय ने उसे अन्न पैदा करने की प्रेरणा की। रोग का भय मनुष्य को अत्यधिक भोग से बचाता है, बुढ़ापे की शारीरिक अक्षमता का भय उसे यौवन में परिश्रमी और मितव्ययी बनाता है, सामाजिक अपवाद का भय उसे नैतिक नियमों के पालन में विवश करता है। किन्तु यह भय तभी तक कल्याणकारी है जब तक वह मनुष्य को रचनात्मक कार्यों में प्रवृत्त करता है; जबतक वह मर्यादित रहता है और उस पर आत्मा का नियन्त्रण रहता है। वस्तुतः यह प्रवृत्ति हमारी रचनाओं का प्रत्यक्ष कारण नहीं बनती बल्कि हमारा आत्मसंयम ही रचनात्मक होता है।

मनुष्य में कुछ प्रवृत्तियां रचनात्मक होती हैं कुछ संरक्षात्मक। भय की प्रवृत्ति संरक्षात्मक प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति हमें सावधान करती है और हमारी रचनात्मक प्रवृत्ति को जागृत करती है। इस काम में यदि उसे सफलता न मिले, यदि हमारी रचनात्मक वृत्तियां निष्क्रिय हो

चुकी हों, तो भय की प्रवृत्ति तीव्र हो जाती है। वह स्वयं सक्रिय होकर हमारी आत्मिक शक्तियों पर अधिकार कर लेती है। सभी प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में यह सत्य चरितार्थ होता है। उनका रुख रचनात्मक कार्यों की ओर न किया जाय तो वह विनाशात्मक कार्यों में प्रवृत्त हो जाती हैं।

चरित्र का मूलमन्त्र : संयम

चरित्र-निर्माण में संयम का स्थान सब से महत्त्वपूर्ण है। यहां, संयम से मेरा अभिप्राय अपनी प्रवृत्तियों को अपने वश में रखने से है। यही चरित्र का मूल-मन्त्र है। कुछ लोग यह तर्क करते हैं कि वश में करने की अपेक्षा प्रवृत्तियों के प्रति उदासीनता का होना श्रेयस्कर है। विषयों के प्रति वैराग्य होने से स्वयं संयम हो जायगा। प्रवृत्तियां स्वयं शान्त हो जायंगी, हमें कष्ट नहीं देंगी।" यह धारणा भ्रममूलक है।

प्रवृत्तियों को वश में नहीं करोगे तो वे तुम्हें वश में कर लेंगी

सच यह है कि प्रवृत्तियों को वश में नहीं करोगे तो वे तुम्हें वश में कर लेंगी। हमारे ग्रन्थों में शरीर को रथ कहा है। सारथी आत्मा है। इन्द्रियां घोड़े हैं। यदि सारथी आत्मा के वश में इन्द्रियों की प्रवृत्तियां नहीं हैं तो इन्द्रियों के घोड़े स्वयं जिधर चाहेंगे रथ को ले जायंगे। यह रथ ऐसा नहीं है जिसे हम संसार के किसी एकान्त कोने में खड़ा कर दें। जीवन का अर्थ ही गति है। रथ को चलना ही है। प्रश्न केवल यह है कि प्रवृत्तियां आपके इशारे पर चलती हैं या आप उनके इशारे के गुलाम हैं।

आप अपने मालिक हैं या नहीं ?

हर इन्सान इस प्रश्न का उत्तर दे सकता है। ईमानदारी के साथ आप अपने दिल को टटोलें तो इसका जवाब आपको स्वयं मिल जायगा। जीवन का प्रत्येक क्षण आपको इस प्रश्न का उत्तर देता है। आप अपने मालिक हैं या नहीं ? यह आप

अच्छी तरह जानते हैं। आपकी प्रत्येक चेष्टा इस प्रश्न का उत्तर देती है। और इसी उत्तर पर आपका मानसिक आरोग्य निर्भर करता है व जीवन के प्रति आपके रुख का पता लगता है।

यदि अपने मालिक आप स्वयं हैं तो आप कभी अपने को दबे हुए, हीन दीन अनुभव नहीं करेंगे। आपकी आंखें ईश्वर को छोड़कर किसी के सामने नीची नहीं होंगी। आपकी गरदन बादशाह के आगे भी नहीं झुकेगी। आप स्वयं बादशाह होंगे। सारी दुनियां आपको अपनी सल्तनत मालूम होगी। आपके सब काम खुद संवरते जायंगे। छोटे-मोटे झंझावात आपको डगमग नहीं कर सकेंगे। आपके पैर पृथ्वी पर बड़ी मजबूती से जमे रहेंगे; और मन का सन्तुलन इतनी अच्छी तरह क़ायम रहेगा कि बड़े-से-बड़े आंधी-तूफानों में से हंसते-खेलते आप निकल जायंगे।

लेकिन, रथ के घोड़ों की लगाम हाथ से छूटते ही आपकी दशा बदल जायगी। आंखों की रोशनी जाती रहेगी, होठों की हंसी और मन की प्रफुल्लता कुम्हला जायगी। हवा का छोटा-सा झोंका भी आपकी जड़ों को कंपा देगा। मन पर पहाड़ का बोझ पड़ जायगा। जीवन के सब काम अर्थशून्य हो जायंगे। पहले दुख में भी हंसना सूझता था अब सुख की चिनगारी भी चित्र के बुझे हुए दीपक को जगमग नहीं कर सकेगी।

मंझधार में तिनकों का सहारा

हमारे बीच में हजारों ऐसे हैं जिनका मन इस मानसिक गुलामी की आग से राख हुआ हुआ है। वैसे उनके पास सब कुछ है। दौलत है, इज्जत है, समाज में ऊँचा दर्जा है, रहने को सजे हुए प्रासाद हैं, बैंक में अनगिनत धन है। वे भी चाहते हैं कि हम सुखी हों। किन्तु बहुत कोशिश करने पर भी उनके हाथ सुख क्या, सुख की परछाईं भी नहीं आती।

सुख की इच्छा से वे कभी किसी वस्तु का अवलम्बन लेते हैं,

कभी किसी का। जैसे मंझधार में डूबता आदमी तिनकों का सहारा लेता है। लेकिन तिनके तो उसे पार नहीं लगा सकते। वे उसे और भी थका देते हैं, निराश कर देते हैं।

असंयमित जीवन—विचित्र भूलभुलैयां

मनुष्य की बुद्धि एक बार रास्ता भूल जाय तो अनेक रास्तों पर भटकती है। एक बार हमारी विवेक बुद्धि ग़लत रास्ते पर चल पड़े तो हम विचित्र भूल-भुलैयों में पड़ जाते हैं। एक बार का बुद्धि-विभ्रम सारे जीवन को भँवर में डाल देता है। हमारी अनुभूतियां, हमारी भावनायें और सम्पूर्ण मानसिक प्रगतियां उलटे रास्ते पर चलना शुरू कर देती हैं। जीवन का रुख ही बदल जाता है। हम बीमार हो जाते हैं। शरीर से स्वस्थ प्रतीत होते हुए भी हमारा मानसिक स्वास्थ्य चिन्ताजनक स्थिति पर पहुँच जाता है।

मन के साथ शरीर भी रोगी

मन के साथ शरीर भी निर्बल होना शुरू हो जाता है। मेरे एक मित्र इसी मानसिक व्याधि में पड़ गये थे। उसे यह डर पैदा हो गया था कि उसकी पत्नी उसे छोड़ कर चली जायगी। उसकी शादी हुए अभी केवल एक वर्ष बीता था। इस एक वर्ष में उसकी पत्नी ने हज़ारों रुपये बरबाद कर दिये थे। उस बरबादी की उतनी चिन्ता मेरे मित्र को नहीं थी जितनी पत्नी के भाग जाने की थी। इसका कारण उसका पत्नी-प्रेम नहीं था। वह तो उसी दिन काफ़ूर हो गया था जिस दिन उसने अपनी पत्नी को एक अन्य धनी नौजवान दोस्त के साथ प्रणय-लीला करते देखा था। उसकी चिन्ता का कारण वह प्रणय-लीला भी नहीं थी। उसका कारण था लोक-चर्चा का वह भय जो पत्नी के भाग जाने पर होनी थी। समाज का एक बहुत बड़ा भाग इसी भय से पीड़ित है। लोक-चर्चा का भय उन्हें कभी सुखी नहीं होने देता। साधारणतया बहुत

समझदार और शान्त प्रकृति के होते हुए भी वह मित्र इस भय पर काबू नहीं पा सका। जब वह इस भय को वश में नहीं कर सका तो उस भय ने उसे अपने वश में कर लिया। कुछ दिन बाद जब मैं उससे मिला तो वह बहुत निर्बल था। चेहरे पर पीलापन छा गया था। आँखें अन्दर धस गई थीं। हाथ कांपते थे। मैंने गिलास भर कर उसे पानी दिया तो उसने कहा "आधा गिलास दो, यह भारी है, मुझ से उठेगा नहीं।" कुछ दिन पहले ही उसने मुझे टेनिस में हराया था और तैरी में मात दी थी। आज सचमुच वह पूरा भरा गिलास उठाने में असमर्थ था। मुझे उसकी अवस्था पर बड़ा आश्चर्य हुआ। वह काफी समझदार था। किन्तु उसकी प्रवृत्तियां उसके वश में नहीं थीं। वह उन्हें पूरी तरह संयत नहीं कर सका था।

मैंने उसे अपने पर काबू पाने की सलाह दी। किन्तु सलाह देने से ही तो संयम की प्रेरणा नहीं दी जा सकती। वह कहने लगा "मैं अच्छा होना नहीं चाहता।"

इस मानसिक अस्वस्थता के रोगी का उपचार इसीलिये बहुत कठिन हो जाता है कि वह स्वस्थ होने की इच्छा ही छोड़ देता है। उसका अर्धचेतन मन उसे अस्वस्थ रहकर लोक-चर्चा से कुछ देर के लिये छुटकारा पाने और मित्रों की सहानुभूति पाने का लालच देता रहता है। अस्वस्थ मन के साथ स्वस्थ शरीर का सामंजस्य भी नहीं है। स्वस्थ शरीर के साथ उसके व्यक्तित्व का जो पुष्ट रूप सामने आता है वह वस्तुतः मानसिक रोग से इतना खोखला हो चुका होता है कि वह अपने संभावित रूप के झूठे गौरव का भार-वहन नहीं कर सकता।

इस अवस्था में उसका शरीर अनेक स्नायु सम्बन्धी विषम रोगों का घर बन जाता है। बाह्य रूप से उसके शरीर में किसी रोग के लक्षण अभिव्यक्त नहीं होते। उसके रोग का निदान केवल मानसिक दुःख होता है। वह अपनी समस्या का समा-

शारीरिक रोग का निदान मानसिक दुःख

ध्यान नहीं पाता। उसकी रुग्णता केवल अपने व दूसरों की दृष्टि में अपनी स्थिति को तर्कसंमत सिद्ध करने का बहाना मात्र होती है। वस्तुतः उसकी इच्छा प्रेम और सहानुभूति प्राप्त करने की होती है। जब ये उसे नहीं मिलते तो उसका-अचेतन मन उसे इनकी प्राप्ति के उपाय सुझा देता है।

ऐसे मानसिक रोग से पीड़ित व्यक्ति का रोग इस कारण भी दुःसाध्य हो जाता है कि यद्यपि उसका मन नीरोग होने को उत्सुक होता है किन्तु उसकी मनःस्थिति ऐसी बन जाती है कि वह अपने मर्ज़ को लाइलाज समझने लगता है।

इस बीमार के इलाज में एक कठिनाई और भी पेश आती है।

निराशा में आनन्द

प्रायः यह होता है कि ऐसा दुर्बल-चरित्र व्यक्ति अपनी निराशाजनक स्थिति में ही विकृत-आनन्द की तृप्ति अनुभव करना शुरू कर देता है और दूसरों से विशेष होने की विडम्बना से भी मन ही मन झूठी तृप्ति का आनन्द लेता है।

ऐसा बीमार आदमी हद दर्जे का खुदगर्ज़ बन जाता है। वह

अपने ही वृत्त में केन्द्रित व्यक्ति अपने व संसार के लिये समस्या बन जाता है

स्वनिर्मित कल्पना-संसार में रहने के कारण अपने ही वृत्त में केन्द्रित हो जाता है। उसे अकेलापन ही प्रिय होता है। यह एकान्त-निष्ठा उसके मन में अहंकार को जन्म दे देती है। वह न केवल दुनिया से दूर रहना चाहता है बल्कि अपनी सभी सामाजिक वृत्तियों को नष्ट कर देता है।

सच तो यह है कि ऐसा रोगग्रस्त निर्बल व्यक्ति अपने लिये और सारे समाज के लिये अनिष्टकर बन जाता है। उसकी बीमारी का मूल कारण एक ही है.........असंयम। वह दुनिया पर हकूमत करने के स्वप्न लेता है किन्तु अपनी ही वृत्तियों से पराजित हो जाता है। उसका

रोग और वह स्वयं दोनों दूसरों के लिये टेढ़ी समस्या बन जाते हैं।

मेरा यह विश्वास है कि उनकी समस्या कितनी ही जटिल हो, उनकी मानसिक निर्बलता का कोई भी रूप हो हम उसका उपाय कर सकते हैं। उसका उपचार हो सकता है। किन्तु उपचार की सफलता चार शर्तों पर निर्भर करती है।

तीन उपचार

१—पहली यह कि उसके मन में मानसिक स्वास्थ्य लाभ करने की दृढ़ इच्छा हो और वह अपने स्वस्थ होने में विश्वास रखता हुआ चिकित्सक के प्रयोग में सहयोग दे।

२—दूसरी यह कि वह अपनी दुश्चिन्ता का मूल कारण जानने का प्रयत्न ठण्डे दिल से पूरी ईमानदारी के साथ करे। अपने को धोखा न दे।

३—तीसरी यह कि वह फिर स्वावलम्बी बनकर सम्मानपूर्ण जीवन बिताने का इरादा रखता हो।

४—चौथी बात यह है कि उसके सामने कोई लक्ष्य हो।

पहली शर्त्त तब पूरी होगी यदि उसकी इच्छा-शक्ति में बल होगा। उसे स्मरण रखना चाहिये कि उसकी प्रवृत्तियां बड़ी बलवती हैं[1]। मन बड़ा चंचल और हठी है। वह समय और स्थान की दूरी को भी कुछ नहीं मानता। जब हम सो जाते हैं तो भी वह स्वप्न की दुनिया में निर्बाध विचरता है। ऐसी बलवती प्रवृत्तियों पर शासन करने के लिये कई गुणा ज्यादा बलशाली और दृढ़ इच्छा शक्ति की आवश्यकता है। यह काम हमारी बुद्धि से नहीं हो सकता। तर्क हमें वह बल नहीं देता जो प्रवृत्तियों पर विजय पा सके। प्रवृत्तियां बुद्धि की प्रेरणा को नहीं, भावना की प्रेरणा को ही अधिक प्रामाणिक समझती हैं। तर्क द्वारा प्रवृत्तियों को वश में करना उसी तरह है जैसे कपड़े की चादर से समुद्र की लहरों को बांधना

दृढ़ इच्छा शक्ति आत्मशक्ति है

---

१. इन्द्रियाणि प्रमाथीनी हरन्ति प्रसभं मनः गीता।

अथवा किसी दार्शनिक का युक्ति द्वारा किसी डाकू को चोरी से रोकना। सभी बहुश्रुत विद्वान् तार्किकों का चरित्रवान् होना आवश्यक नहीं है। चरित्र-बल तर्क-बल से ऊपर है। ज्ञानी से संयतात्मा बड़ा होता है[१]। तपस्या का स्थान ज्ञान से ऊंचा है। चरित्र-बल आत्म-बल है। बुद्धि से आत्मा गरीयसी होती है। दृढ़ इच्छा-शक्ति आत्मबल का ही दूसरा नाम है। संयम से प्रवृत्तियों पर विजय पाने के इच्छुक व्यक्ति के लिये यह भी आवश्यक है कि उसमें केवल इच्छाशक्ति की दृढ़ता ही न हो बल्कि सबल होने का विश्वास भी पूरा हो।

आत्मविश्वास जीवन-युद्ध का अजेय अस्त्र है

आत्मविश्वास संयम की अनिवार्य शर्त्त है। जिसका अपने पर से ही विश्वास उठ चुका हो वह प्रवृत्तियों से कैसे लड़ेगा! जीवन का युद्ध प्रतिक्षण चलता रहता है। मनुष्य का मन एक युद्ध-क्षेत्र है। यहां परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का केन्द्र हर समय चलता रहता है। एक समय की पराजय का अर्थ सदैव की पराजय नहीं हो सकता। क्योंकि दोनों प्रवृत्तियां मनुष्य के मन की ही दो विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियां हैं। मैं यह नहीं मानता कि हम उन प्रवृत्तियों को दैवी या आसुरी, दो भिन्न श्रेणी के विभागों में बांट सकते हैं। उनमें ना कोई आसुरी है ना कोई दैवी। दोनों ही मानुषी प्रवृत्तियां हैं। अपनी प्राकृत अवस्था में दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियां कल्याणकारी होती हैं। उनकी समुचित व्यवस्था हो तो सभी समान रूप से हितकर हैं। दोष हमारी व्यवस्था का है। निर्बलता हमारी अपनी है, जो अपना सारथीपन छोड़कर इन्द्रिय रूपी घोड़ों को मनमाने राह जाने की छुट्टी दे देते हैं।

आत्मविश्वास के बिना आत्म-संयम असम्भव है। आत्मविश्वास-रहित व्यक्ति निर्भय नहीं बन सकता। संयम की सफलता के लिये, सफलता पर विश्वास होना आवश्यक है। नहीं तो वह प्रयत्न ही नहीं

१. ज्ञानवान् लभते ज्ञानं, संयतात्माः ततः परः। ज्ञानिभ्योऽधिकोतपः।

करेगा। मंझधार में ही थककर प्राण दे देगा। विश्वास के लिये श्रद्धा भी अपेक्षित है। अपने से महान् शक्ति पर विश्वास को ही श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धानिष्ठ होना भी संयम में सहायक होता है।

हार में जीत

पराजय के क्षणों ने ही संसार में बड़े-बड़े विजेता और महान् पुरुष बनाये हैं। पराजय के क्षण प्रत्येक जीवन में आते हैं। असफलता से प्रत्येक मनुष्य की भेंट होती है। किन्तु पराजय और असफलता को प्रत्येक मनुष्य अपनी दृष्टि से देखता है। कुछ लोग पहली हार से ही निढाल होकर सदा के लिये बैठ जाते हैं, असफलता की पहली झपट में ही वे निश्चेष्टता के शिकार हो जाते हैं। दैव ही विपरीत है, सारा जमाना दुश्मन है, हम कमजोर हैं क्या करें, आदि बहाने उन्हें भविष्य के लिये नपुंसक बना देते हैं। दूसरे कुछ लोग ऐसे हैं जो पहली हार से सबक़ सीख कर दूसरी मुहिम की तैयारी शुरू कर देते हैं। दूसरी हार भी उन्हें नया सबक़ देती है। हर हार के बाद उनका मन नये अनुभव पाने की खुशी में नाच उठता है। प्रत्येक पराजय उन्हें उनकी कठिनाइयों का नया ज्ञान देती है और कठिनाइयों को हल करने की नई सूझ सुझाती है। हारकर जब वे फिर उठते हैं तो उन्हें यह सन्तोष होता है कि 'चलो, एक पड़ाव और तय हो गया, अब मंजिल साफ़ नजर आने लगी है।'

असफलता को जीवन की एक साधारण सी घटना ही समझना चाहिए। ठोकर खाकर मनुष्य को यह देखना चाहिए कि ठोकर उसने क्यों खाई? वह सही रास्ते पर ही जा रहा था या रास्ता भूलकर किसी और दिशा में चल पड़ा था? ऐसी अवस्था में वह ठोकर उसे सावधान करने के लिये आती है। वह उसे कहती है 'अभी बहुत दूर नहीं आये हो, यह रास्ता तुम्हारा रास्ता नहीं है। अब भी लौट जाओ।' यदि वह अपने रास्ते पर जा रहा है तो उसे सोचना चाहिए कि उसने रास्ते का पत्थर पहले क्यों नहीं उठा दिया। रास्ते पर चलते हुए उसका ध्यान कहीं और तो नहीं था। उसका मन अपने निर्धारित आदर्शों से

भटक तो नहीं गया था। कहीं उसकी एकाग्रता पथभ्रष्ट तो नहीं हो गई। उसका ध्यान अनावश्यक चीजों पर अनुपयोगी मनोरंजनों में विभक्त तो नहीं हो गया। जीवन के उद्देश्य को मनुष्य नितान्त तन्मय होकर ही बेध सकता है। आधे दिल से छोड़ा हुआ तीर निशाने पर नहीं लगता। अनमने भाव से चलने वाला राही ठोकर पर ठोकरें खाता है। अव्यवस्थित चित्त से चलता हुआ पथिक ही पराजय की ठोकरें खाता है। ठोकर खाने के बाद उसे फिर से तन्मय होकर निशाना बेधने की तैयारी करनी चाहिए। पराजय व असफलता की घड़ियों से हम प्रेरणा और उत्साह ग्रहण करना सीखें तो सफलता हमारी सहचरी बन जाय।

असफलता में सफलता की प्रेरणा

बच्चे के हाथ में खिलौना देकर यदि आप उससे छीन लें और बार बार देने का अभिनय करते हुए भी उसे न दें तो बच्चा उसे पाने को पूरी शक्ति लगा देगा। वह हार नहीं मानेगा। हर बार हाथ में आई चीज़ के फिसल जाने के बाद उसे पकड़ने का संकल्प उसके मन में दृढ़ से दृढ़तर होता जायगा। 'अब के जरूर पकड़ लूंगा—अबकी बार—अगली बार—अच्छा, इस बार तो मजाल है हाथ से निकल जाय।' यह भावना उसके मन में पक्की होती जाती है। कारण यह कि बच्चे का मन स्वस्थ है। उसमें घुन नहीं लगा। उसकी नसों में नया खून चलता है। निराशा के रोग से वह प्रताड़ित नहीं हुआ। मनुष्य का मन भी यदि अनावश्यक अप्राकृत उद्वेगों से हताहत नहीं होगा तो उसका ज्वार हर असफलता की आंधी से बढ़ता ही जायगा। असफल होकर सफलता पाने का जोश ज्वारभाटे की तरह बढ़ता ही जायगा।

भगवान् मनुष्य से कहता है कि हे मनुष्य! उत्कर्ष के मार्ग पर बढ़ना ही तेरे जीवन का नियम है, नीचे गिरना नहीं। उत्कृष्ट जीवन व्यतीत करने के लिये मैंने तुझे अनेक शक्तियों से समर्थ किया है।*

---

* उद्यानं ते पुरुष नाव यानं जीवातुं ते दक्षतातुं कृणोमि।

अपने जीवन के अन्तिम वर्ष भी नोआखाली का दौरा करते हुए महात्मा गांधी ने लिखा था कि "यह सच है कि दिन से पहले रात का अंधेरा होता है, किन्तु मैं अभी तक अन्धेरे में हूं । मैं सत्य और अहिंसा की परीक्षा में और उनके प्रयोग में अभी तक सफलता नहीं पा सका हूं । इसी कारण मैं अभी तक अन्धेरे की बात करता हूं ।"

यशस्वी जीवन बिताने वाले गांधी जी भी अपने जीवन को असफल कह गये हैं । सफलता का अभिमान तो कोई कर ही नहीं सकता । सफल वही है जो असफलता में सफलता पाने की नई प्रेरणा देखता है । विजयी वही होता है जो हर हार में जीत की झलक देखता है, जो रात के तारों में सूरज की स्वागत-ध्वनि सुनता है ।

दूसरी शर्त्त भी बड़ी आवश्यक है । हम शरीर की अस्वस्थता के रोग विश्लेषण के लिये बड़े २ चिकित्सकों के पास जाते हैं, हज़ारों रुपये खर्च करते हैं किन्तु मन की अस्वस्थता का मूल कारण जानने के लिये कुछ भी नहीं करते । यहां तक कि स्वयं भी अपनी मानसिक अस्वस्थता का निदान ढूंढने का यत्न नहीं करते । हम स्वयं भावनाओं की आंधी में बह जाते हैं । अपनी वासना को हम इतना अतिरञ्जित रूप दे देते हैं कि तिल का ताड़ बन जाता है । बुद्धि द्वारा विश्लेषण करके देखें, ठण्डे दिमाग से अपने आवेशों का मूल कारण खोजें तो हम स्वयं आश्चर्य में पड़ जायं । अंग्रेजी कवि ने बड़ा अच्छा कहा है—

ठंडे मनसे अपने-अपने आवेशों का मूल-कारण खोजिये

"On life's vast ocean diversely we sail,
Reason is the cord but passion is the gale".

जीवन के विशाल समुद्र में हमारी नौकाएं चल रही हैं; जब वासनायें आंधी बनकर आती हैं तो बुद्धि के मस्तूल हमारी नौका को लक्ष्य की ओर ले जाते हैं । वासना प्रायः आंधी बन कर ही आती है । वह सदा अपने असली स्वरूप

पाप स्वयं रंगीन नहीं होता हमारी वासना उसे रंगीन बना देती है

से अधिक बड़ी और रङ्गीन बन कर आती है। वह रङ्ग सच्चा नहीं होता। पाप स्वयं रङ्गीन नहीं होता, हमारी वासना उसे रङ्गीन बना देती है। जैसे डूबता हुआ सांझ का सूरज आकाश पर छितरी हुई बादल की धुंधली २ टुकड़ियों को तरह-तरह के रङ्ग में रङ्ग देता है उसी तरह हमारी वासना संसारी वस्तुओं को तरह-तरह के रङ्गों में रङ्ग देती है। तभी हम कहते हैं कि "उसे कोई मेरी आंख से देखे"। पोप ने ठीक कहा था—"All seems infected that the infected spy, all looks yellow to the jaundiced eye." दृश्य वस्तु का सौन्दर्य देखने वाले की आंख में ही होता है। उसी की भावना उसे सुन्दर बनाती है। दूसरों के लिये वही वस्तु बहुत सामान्य होती है। हम जब वासना की आंधी में बह रहे हों, तब हमें कोशिश करके एक तटस्थ व्यक्ति की तरह वस्तु-स्थिति को देखने का प्रयत्न करना चाहिये। वासना का ज्वर उतरते ही हम देखेंगे कि जिस वस्तु की ओर हम खिंचे जा रहे थे वह बहुत मामूली है। काम-ज्वर उतरने पर बड़े से बड़े कामी को भी अपनी मूर्खता पर पश्चात्ताप होता है। इस पश्चात्ताप से बचने का उपाय यही है कि हम प्रवृत्तियों के प्रवाह में बहने से पहले ही तटस्थता की मनोवृत्ति धारण करने का अभ्यास करें। दुख यही है कि हम ऐसा नहीं करते। इसके अलावा हम अपने ज्वर का निदान ढूंढते समय अपने चिकित्सक को ही नहीं, स्वयं अपने को भी धोखा देते हैं।

अपनी साधारण काम-प्रवृत्ति को आत्मिक मिलन का नाम देकर हम न केवल दुनिया को ठगते हैं, अपने को भी ठगते हैं। मैं ऐसे अनेक मित्रों को जानता हूँ, जो किसी कठिन आदर्श पूर्ति के परदे में अपने काम ज्वर को शान्त करते हैं। कला के नाम पर मन की वासना को तृप्त करना कलाकारों का प्रकृतिसिद्ध अधिकार बन गया

कला की आड़ में कामदेव की पूजा संयम को असाध्य कर देती है

है । प्रेयसी के नख-शिख वर्णन को साहित्य कह कर साहित्य-मन्दिर के पुजारी बनना अधिकांश साहित्यिकों ने सीख लिया है । कामचेष्टाओं को तालबद्ध भाव भंगियों द्वारा प्रगट करके उसे नृत्यकला की उपासना का नाम दे दिया जाता है । संगीत भी निरोधित कामवृत्तियों को स्वर-ताल में बांध कर प्रगट करने की एक कला बन गई है । मैं काम-प्रवृत्ति या उसके प्रकाशन के इन विविध माध्यमों को बुरा नहीं सम-झता । मनुष्य की अन्य स्वाभाविक प्रवृत्तियों की तरह यह भी स्वाभा-विक प्रवृत्ति है । इस प्रवृत्ति का कला रूप में प्रकाशन भी बुरा नहीं है क्योंकि कला में वह स्वयं संयत हो जाती है । बुरा यह है कि हम सचाई को स्वीकार न करें और अपने को धोखा दें । धोखा देने का नतीजा यह होता है कि हम उसमें अतिशय प्रवृत्त हो जाते हैं । काम-वासना को वासना मानकर उसका संयम करना आसान है किन्तु उसे साहित्य और कला की मूर्तियों में अवतरित करके उसकी उपासना से मुक्ति पाना कठिन है । तब हम यह अनुभव करते हैं कि इस कला रूप में वासना-रत रहने की हमें छूट मिल गई है । जो साहित्यकार या कलाकार अपनी वृत्तियों के वश में होकर अपनी रचना-शक्ति को वासना-प्रधान कृतियों में खर्च कर देता है, वह न केवल अपना शत्रु है बल्कि समाज का भी शत्रु है । उसका ज़हर कला के रूप में मीठा बन कर सारे समाज को अपनी ओर खींचता है । ऐसा कलाकार सम्पूर्ण समाज के चरित्र को विषाक्त बनाता है ।

आत्मवंचना संयम के मार्ग की बहुत भारी रुकावट है

इस सामाजिक प्रवंचना के अतिरिक्त वैयक्तिक प्रवंचना भी कम नहीं है । मेरे एक मित्र ने मुझे चिट्ठी में लिखा कि "मैं अपने तीन भाइयों में और अनेक साथियों में रहता हुआ भी बड़ा अकेला-पन अनुभव करता हूँ । मैं चाहता हूँ, मेरी कोई बहन होती । अपने साथियों में मुझे कोई दिलचस्पी नहीं रही है । क्या मेरी इच्छा अस्वाभाविक या असा-

धारण है ?" मैंने उसे जवाब दिया कि "तुम्हारी इच्छा में कुछ भी असाधारणपन नहीं है। तुम अब २२—२३ वर्ष के हो, इस उम्र में किसी लड़की का साहचर्य चाहना बहुत ही स्वाभाविक इच्छा है। किन्तु 'मेरी भी कोई बहन होती' यह कहकर तुम अपने को धोखा दे रहे हो, तुम्हें बहन नहीं पत्नी की आवश्यकता है। शादी किये बिना तुम्हारी बेचैनी दूर नहीं होगी।"

मेरी एक मित्र लड़की को घुंघराले बालों से सख्त नफरत थी। होटल में चाय पीते समय एक घुंघराले बालों वाला नौजवान हमारे पास वाली मेज़ पर आ बैठा। वह लड़की उसे देखकर इतनी विक्षिप्त हो गई कि बिना चाय पिये वहां से उठना पड़ा। पूछने पर वह अपनी घृणा का कोई स्पष्ट कारण न समझा सकी। किन्तु बाद में मालूम हुआ कि दो वर्ष पूर्व काश्मीर में उसका परिचय एक घुंघराले बालों के नौजवान से हो गया था। वह लड़का बहुत सुन्दर और सज्जन था। दोनों में प्रेम हो गया। किन्तु लड़के को अचानक काश्मीर छोड़कर जाना पड़ा। लड़की सालभर उसके पत्र की प्रतीक्षा करती रही। उसके अचेतन मन में अब भी वह प्रतीक्षा दबी हुई है। प्रत्यक्ष रूप से वह उसके लिये उदासीनता ही प्रगट करती है। घुंघराले बालों से उसे तभी से चिढ़ है। वह कहती है उसे इन बालों से घृणा है। किन्तु सच यह है कि वह अपने को धोखा दे रही है। इस घृणा पर वह तब तक संयम नहीं कर सकेगी जब तक वह प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से यह स्वीकार नहीं कर लेगी कि वस्तुतः घुंघराले बालों से उसे प्रगाढ़ प्रेम है, गहरी आसक्ति है। प्रेम की भावना ही अपनी अभिव्यक्ति न पाकर, घृणा की भावना में बदल जाती है। इस परिवर्तन को जानते हुए भी हम अनजाने से बने रहते हैं। यह आत्मवंचना है। इस आत्मवंचना का सब से बुरा नतीजा यह होता है कि हम उस प्रवृत्ति को संयत नहीं कर सकते। संयम के मार्ग में यह बाधा हमें सफल नहीं होने देती।

भावनाओं का स्वरूप किस तरह विकृत होता रहता है और वह

विकार हमें संयमित जीवन बिताने में कितनी बाधायें डालता है, इसका एक और नमूना मुझे याद आता है। मेरे एक मित्र ने मुझे यह लिखा कि "मुझे यह स्वीकार करते हुए दुःख होता है कि परस्त्रीगमन को पाप समझते हुए भी मैं वैश्यागामी हो गया हूँ। स्त्रियों के प्रति मेरा विशेष आकर्षण नहीं है। कुछ अरुचि ही है। भोग की इच्छा ने मुझे कभी नहीं सताया। फिर भी मुझ में यह व्यसन घर कर गया है। समझ नहीं आता। किस तरह इससे छुटकारा पाऊँ। तुम्हीं बताओ, यह कैसे हो सकता है ?"

निरोधित भावनायें विकृत होकर मनुष्य को धोखा देती हैं

मैं उस मित्र को देर से जानता हूँ। वह स्वभाव से व्यसनी था कामुक नहीं है। कुछ समय तो मेरे लिये भी यह परिवर्तन आश्चर्य का विषय बना रहा किन्तु उसके घरेलू जीवन से जानकारी होने के कारण मैं समझ गया कि रोग का निदान क्या है। बात यह थी कि उसकी स्त्री ज़रा अभिमानी थी। मेरे मित्र को उसका दबदबा मानना पड़ता। वह स्वयं अभिमानी था, दब्बू स्वभाव का नहीं था। किन्तु घर की शान्ति बनाये रखने के लिये वह स्त्री के आगे दब जाता था। स्त्री का शासन मान लेता था। उसकी स्त्री को सन्तोष हो जाता था कि वह घर पर राज्य कर रही है। [illegible] उसे यह नहीं मालूम था कि वस्तुतः वह पति के दिल में अपने लिये घृणा के बीज बो रही है। शासित और शासक में केवल घृणा का सम्बन्ध रह सकता है। धीरे २ उसके पति के हृदय में अपनी स्त्री के लिये तीव्र घृणा भर गई। पत्नी के लिये ही नहीं—स्त्री मात्र के लिये। वह समझने लगा कि सभी स्त्रियां शासन करना चाहती हैं। उसका यह भ्रम तब दूर हुआ जब उसे मालूम हुआ कि एक स्थान ऐसा है जहां वह भी स्त्री पर शासन कर सकता है, पैसा देकर स्त्री को कुछ देर के लिये

प्रेम के परदे में घृणा की चिन्गारियां

गुलाम बना सकता है। उसके हृदय में स्त्रियों के प्रति बदला लेने की जो भावना दबी हुई आग की तरह सुलग रही थी, वह भभक उठी। तभी से वह वैश्यागामी हो गया। वैश्या के पास वह प्रेमवश नहीं, घृणावश जाता है। दुनिया यह समझती है कि वह वैश्या से प्रेम करता है। किन्तु वस्तुतः यह घृणा की ही चरम सीमा है।

किन्तु यह बात वह स्वयं नहीं जानता। जानना चाहे, ईमानदारी से अपनी भावनाओं का विश्लेषण करे तो वह जान सकता है। लेकिन अब वह विकृत-भावनाओं की आंधी में इतनी दूर बह गया है कि तटस्थ होकर सोचने की शक्ति ही खो बैठा है। वह अपने को धोखा दे रहा है। उसका प्रेम, उसकी घृणा, उसका सारा जीवन ही एक धोखा बन गया है। उसकी पत्नी भी धोखे में है। वह अपने पति को शासन में रखकर घर की व्यवस्था करने में ही अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री समझ रही है।

प्रत्येक प्रवृत्ति को अभिव्यक्ति का मार्ग मिलना चाहिए

अपने इस मित्र को मैंने यह सलाह दी कि वह अपने दबे हुए आत्मसम्मान को किसी रचनात्मक कार्य में लगा दे तो उसका जीवन सुधर जायगा। प्रत्येक प्रवृत्ति को अभिव्यक्ति का मार्ग मिलना चाहिए। यदि स्वाभाविक मार्ग नहीं मिलेगा तो वह अस्वाभाविक मार्गों में फूट निकलेगी। किन्तु उसे स्वाभाविक मार्गों में लगाने से पहले उसे अपने को धोखा देने की कोशिश बन्द करनी होगी। संयम की यह शर्त बड़ी आवश्यक और अनिवार्य है।

अचेतन मन में छुपी भावनायें ही हमारा पथ-प्रदर्शन करती हैं

मनुष्य को सदा अपने कार्यों की प्रेरक मनोभावनाओं को परखते रहना चाहना चाहिए। तभी वह अपने को पहचान पायगा। कठिनाई यह है कि ये मनोभावनायें प्रायः स्पष्ट नहीं होतीं। हम ऐसे बहुत से काम करते हैं जिनकी प्रेरणा का मूल कारण क्या है? यह हम स्वयं नहीं जानते। स्वस्थचित्त व्यक्ति को इन मूलकारणों की जो अचेतन मन में छिपे

रहकर हमारे चेतन मन को प्रभावित करते रहते हैं, छानबीन करते रहना उचित है। और यह भी उचित है कि इन्हें अचेतन व परोक्ष मन से निकाल कर प्रत्यक्ष की दुनियां में लाया जाय। किसी भी सूरत में यह बरदाश्त नहीं करना चाहिये कि वे शिखण्डी की तरह अचेतन मन में छिप कर हमें घायल करते रहें।

उचित तो यह सब है, किन्तु होता इसके विपरीत ही है। हमारा जीवन इन परोक्ष भावनाओं से भरा रहता है। थोड़े से आत्म-निरीक्षण से हमें इस सचाई का अनुभव हो जायगा। ऐसी अनेक घटनायें हमें अपने जीवन में ही मिल जायेंगी जो इन परोक्ष भावनाओं के प्रभाव को सूचित कर देंगी।

किन्तु आत्मनिरीक्षण भी कठिन काम है। हमारी स्वार्थ वृत्तियां हमें अपने मनोभावों का सच्चा अध्ययन नहीं करने देतीं। यदि हम एक व्यक्ति से किसी कारण स्नेह करते हैं तो उसकी एक भी बुराई हमारे सामने नहीं आती और यदि एक से द्वेष करते हैं तो उसके गुण भी हमारे लिये दुर्गुण बन जाते हैं। यदि हमें कोई ताश में हरा दे तो हम कहते हैं "उसके पत्ते अच्छे थे" और यदि हम हरायें तो यह हमारी बुद्धि का कौशल हो जाता है। कोई दूसरा धन कमा ले तो हम उसे बेईमानी व ठगी की कमाई घोषित करते हैं और यदि हम स्वयं कमायें तो हमारी व्यापारिक कुशलता हो जाती है।

हमारा स्वार्थ हमें अपने मनोभावों का सच्चा अध्ययन नहीं करने देता

जब हम किसी अजनबी से मिलते हैं तो हम तुरन्त किसी जाने-पहचाने व्यक्ति से उसका सादृश्य ढूंढने लगते हैं और उसके प्रति वही मनोवस्था बना लेते हैं जो तत्सदृश व्यक्ति के प्रति पहले से बनी होती है। नतीजा यह होता है मनुष्य की मनोभावना अनेक निष्कारण पक्षपातों से भर जाती है। एक व्यापारी को किसी ऐसे व्यक्ति ने ठगा था जिसके

जब हमारी मनोभावनायें पक्षपात से भरी होती हैं

अगले दांत पर सोने का खोल चढ़ा था। अब वह सोना-मढ़े दांत वाले किसी भी व्यक्ति से व्यापार सम्बन्ध स्थापित नहीं करता। उसकी पहली नज़र आगन्तुक के दांतों पर जाती है।

मनोवस्था की विकृति का एक रूप और भी प्रच्छन्न होता है। हम एक बात के विपक्ष में केवल इसलिए हो जाते हैं कि हमारे किसी मित्र ने उसका विरोध किया था और दूसरी के पक्ष में इस कारण हो जाते हैं कि हमारे दुश्मन ने उसका विरोध किया था। सच तो यह है कि हमारे राग-विराग की प्रेरक भावनाओं को परखना बड़ा ही कठिन काम है। कोई भी माता अपनी पुत्र-वधू में कोई गुण नहीं देखती। इस पक्षपात का कारण सारी दुनिया जानती है, फिर भी आश्चर्य यह है कि जो यह काम करता है वह उससे अनभिज्ञ रहता है। वह दूसरों की आलोचना कर लेगा लेकिन स्वयं अपनी आंख का शहतीर नहीं देख सकेगा।

हमारी बाह्य चेष्टायें हमारी मनोगत भावनाओं को धोखा देती हैं

खुद आदमी अपने से ही किस तरह ठगा जाता है इसके अनेक उदाहरण हैं। उस समय उसकी बाह्य चेष्टायें उसके मनोभावों के बिल्कुल विपरीत प्रतीत होने लगती हैं। उसकी भावना उसे रोने को मजबूर कर रही होगी लेकिन वह अट्टहास करता होगा। जब उसके दिल में अपनी स्त्री के लिये गहरी घृणा बसी होगी तभी वह प्रेम के मधुर वाक्यों की वर्षा करेगा। मन में वह जला बैठा होगा पर अपनी जलन को छिपाने के लिये असाधारण मीठे शब्दों से स्वागत करेगा। मूर्ख व्यक्ति प्रायः वाचाल हो जाते हैं। मूर्खता छिपाने और अपने को चतुर बताने के लिये वे अनुचित रूप से अधिक बोलने लगते हैं। जब हमें अपनी वेष-भूषा के सुन्दर होने का पक्का निश्चय होता है तो हम चुप रहते हैं, उसकी सुन्दरता का विज्ञापन नहीं करते किन्तु जब हमें सन्देह होता है तो हम हर किसी से उसकी सुन्दरता का वर्णन सुनना चाहते हैं।

हमारे अचेतन मन में छुपी हुई मनोभावनायें ही प्रायः हम पर अधिक प्रभाव डालती हैं। इसलिये उनका संयम करना अधिक आवश्यक है। किन्तु यह काम जितना आवश्यक है उतना ही अधिक कठिन भी है। इस कठिनाई को आसान बनाने का पहला उपाय यही है कि हम उनको अचेतन मन की गुफा से निकाल कर चेतन मन पर लायें। उनके स्वरूप को पहचानें। उनके प्रभावों से परिचय पायें। इसके लिये हमें अपना निष्पक्ष आलोचक बनना होगा।

संयम की तीसरी शर्त यह है कि हम अपनी प्रवृत्तियों से सदा पददलित रहने के स्थान पर स्वस्थ जीवन बिताने की अभिलाषा रखते हों।

स्वास्थ्य पर मन की असंयत प्रवृत्तियों का प्रभाव अवश्य पड़ता है।

मनुष्य के अधिकांश शारीरिक रोगों का मूलकारण मानसिक अस्वस्थता

साधारणतया उसे शारीरिक विकार समझकर केवल शारीरिक चिकित्सा ही की जाती है। मानसिक चिकित्सा का प्रचलन अभी हाल ही में हुआ है। मन के चिकित्सकों का कहना है कि मनुष्य के अधिकांश रोगों का मूलकारण ही मानसिक है। वस्तुतः मन और शरीर की वृत्तियां परस्पर इतनी गुथी हुई हैं कि एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ता ही है। उन्हें अलहदा नहीं कर सकते। शारीरिक चेष्टाओं का प्रभाव मन पर पड़ता है और मानसिक वृत्तियों का प्रभाव शरीर पर पड़ता है।

शारीरिक वृत्तियों का मनुष्य के मन पर जो प्रभाव पड़ता है वह अधिक अस्पष्ट नहीं है। आज का जीवन बहुत हलचल और दौड़धूप का है। संघर्ष की मात्रा दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है। धन कमाने और समाज में ऊंचे दर्जे के लोगों में गिने जाने की महत्त्वाकांक्षा ने सब को पागल बना दिया है। ऐसे कार्यव्यग्र आदमी हर समय आंधी की तरह दौड़ते नज़र आते हैं। वे कभी विश्राम नहीं करते। दिन भर दफ़्तर या दूकान पर थकने के बाद जब वे घर आते हैं तो भी विश्राम

के लिये नहीं ठहरते। कोई कमेटियों में जाता है तो कोई सिनेमाघर या नाचघर।

थकान हमारी रोगा-वरोधक शक्ति को नष्ट कर देती है

नतीजा यह होता है कि एक थकान-सी उनके शरीर के अवयवों में समा जाती है। दिल की धड़कन बढ़ जाती है। ऐसे समय भी यदि वे विश्राम न लें तो उनका मानसिक-विराम हो जाता है। हमारे शरीर में गुर्दों के ऊपर दो ग्रन्थियां रखी हुई हैं जिन्हें glands of flight कहा जाता है। उनका काम ही शरीर को आने वाले भय से सावधान करना है। किन्तु इन ग्रन्थियों को भी यदि विश्राम न मिले, मनुष्य निरन्तर आंधी की तरह दौड़ता रहे तो शारीरिक विकार के चिन्ह और भी स्पष्ट हो जाते हैं। पाचन-क्रिया मन्द पड़ जाती है, नींद आनी ही बन्द हो जाती है और मांस-पेशियां ज़रा से उत्तेजन पर उछलने को तैयार रहती हैं। उनकी अवरोधक शक्ति नष्ट हो जाती है। तब भी यदि मनुष्य काम करना न छोड़े, विश्राम न ले तो ग्रन्थियां निर्जीव हो जाती हैं, mucus membranes और त्वचा, उस द्रव को बाहिर निकालना बन्द कर देती हैं जो बाहर की बीमारियों के सम्पर्क में रोगग्रस्त होने से शरीर को बचाता है।

आवेशों का सूक्ष्म प्रभाव शरीर के अवयवों पर पड़ता है

प्रत्येक आवेश, अत्यधिक भय, घृणा, काम, क्रोध, अपनी छाया हमारे चेहरे और शरीर के अन्य अवयवों पर छोड़ जाता है। हमें उन सूक्ष्म प्रभावों का पता नहीं लगता। तभी हम यह समझते हैं कि हमारे आवेश बादल की तरह उमड़ते हैं और कुछ देर हमारे हृदयाकाश में गरज कर चले जाते हैं; उन्हें मनमानी उड़ने देने में कोई हानि नहीं है। किन्तु दिल के आस्मान में वासना के उमड़े हुए बादल तूफान बनकर किस तरह हमारे शरीर के प्रायः अवयवों को झंझोड़ डालते हैं और हमारी

शारीरिक-यन्त्रशाला के हर पुर्जे को अव्यवस्थित कर जाते हैं, इसका ज्ञान हमें तब तक नहीं होता जबतक हमारे शरीर की वासनाजन्य विकृतियां प्रत्यक्ष रूप में हमारे सामने न आजायँ।

भय के कारण उन्निद्र रोग

भय की प्रतिक्रिया हमारे शरीर पर बड़ी अनिष्टकर होती है। यह हमारी आन्तड़ियों और पेट की मांसपेशियों को अचेतन कर देता है। हृदय का कम्पन बढ़ जाता है। रक्त का दबाव अनियमित हो जाता है। सारे शरीर में भय से मांसपेशियों का तनाव इतना अधिक हो जाता है कि नींद आने में कठिनाई होती है।

अमेरिका की कोलगेट युनिवर्सिटी में कुछ निद्रा सम्बन्धी प्रयोग किये गये थे। उन प्रयोगों से मालूम हुआ कि सोये हुए मनुष्य का रक्तदबाव बढ़ जाता है यदि उसके पास से कोई भी चीज शोर मचाती हुई गुज़र जाय। मांस पेशियों का तनाव भी शोर से बढ़ता है। अचानक शोर से हमारे शरीर की प्रतिक्रिया वही होती है जो भय के आवेश से होती है। दोनों की प्रतिक्रिया बिल्कुल समान होती है। दुश्चिन्ता की भी यही प्रतिक्रिया है।

इन शारीरिक प्रतिक्रियाओं का नियन्त्रण असंभव है

कठिनाई यह है कि हम इस प्रतिक्रिया का विरोध नहीं कर सकते। और इनका प्रत्यक्ष अनुभव भी नहीं कर सकते। क्योंकि रक्त का दबाव, और मांसपेशियों या पेट के पाचक अवयवों का तनाव उन स्नायु केन्द्रों के अधीन है जो Spinal cord या मस्तिष्क के निचले भाग में हैं। हम प्रत्यक्ष या परोक्ष, किसी भी रूप से इन प्रतिक्रियाओं का नियन्त्रण नहीं कर सकते।

यह काम हमारे मस्तिष्क के ही आधीन है। वह किसी भी

आवेश को उपेक्षित कर देगा तो स्नायुकेन्द्र उसकी प्रतिक्रिया से बच जायंगे।

चूहों पर यह परीक्षण करके देखा गया है कि जो चूहे शान्त वातावरण में रखे गये हैं उनकी भूख अशान्त वातावरण में रखे गये चूहों की अपेक्षा अधिक होती है। उनका शारीरिक विकास भी अच्छा होता है। उनकी आयु भी लम्बी होती है।

भावनाओं का पाचन-यन्त्र पर प्रभाव

आवेशों की प्रतिक्रिया जब मांसपेशियों पर होती है तो भोजन के पुष्टिकर तत्त्व Glycogen का बड़ा भाग मांसपेशियों की क्षतिपूर्ति में ही चला जाता है, फिर भी क्षतिपूर्ति नहीं हो पाती। प्रत्येक आवेश हमारे अंग-अंग को थका देता है।

आवेशों का हमारी पाचन-क्रिया पर सीधा प्रभाव पड़ता है। डर से आक्रान्त होकर हमारा पाचन-यन्त्र अपना काम बन्द कर देता है। पाचक द्रव, सलीवा आदि बनने स्थगित हो जाते हैं। भूख नहीं लगती, अजीर्ण सताने लगता है। तब डाक्टर लोग Pre-digested पूर्वपचित भोजन की सिफ़ारिश करते हैं। उसे मनुष्य आवश्यकता से अधिक खा जाता है। पाचकद्रवों का भोजन के साथ मिश्रण होना आवश्यक है। आवेशों के कारण जब द्रवों का बनना ही बन्द हो जाता है तो मिश्रण क्या होगा? ज्यादा खा जाने से हमारी रक्तवाहिनी नसों के मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं। नसों में शुद्ध रक्त नहीं जाता।

हम तुतलाते भी भय के आवेश से आक्रान्त होकर ही हैं

अत्यधिक आवेशों के कुछ प्रभाव ऐसे हैं जो शरीर के भिन्न अंगों पर बहुत स्पष्ट हो जाते हैं। Stammering तुतलाना और Stuttering अटक कर बोलना भी आवेशों का परिणाम है। चिकित्सक लोग इन रोगों का शारीरिक निदान ढूंढते हैं किन्तु अधिक प्रतिशत रोगियों का कारण प्रायः मानसिक ही होता है। जिस व्यक्ति के आवेश सन्तुलित

और व्यवस्थित हैं और जो हीन-भावना से पीड़ित नहीं है, वह कभी अटककर या तुतलाकर नहीं बोलेगा। तुतलाना कोई रोग नहीं है। यह केवल मानसिक अव्यवस्था है। जिन व्यक्तियों को अपने पर भरोसा नहीं होता, या जिन्हें अपने संगी-साथियों में हीनता का व्यवहार मिलता है, वे तुतलाने लगते हैं। आत्मविश्वास की भावना को जागृत करना ही इस बीमारी का सब से अच्छा इलाज है।

किसी आवेश की अवस्था में शरीर की थकान बहुत बढ़ जाती है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि जब आवेशों की आग में शरीर के पोषक तत्त्व जलते हैं तो शरीर उन पोषक तत्त्वों की क्षति अनुभव करता है तभी हमें थकान अनुभव होती है। हम आवेशों पर संयम न करें तो यह थकान बढ़ते-बढ़ते शरीर को जीर्ण-शीर्ण कर डालती है। शरीर की रोगावरोधक शक्ति क्षीण हो जाती है। क्षीण शक्ति वाले शरीर पर कोई भी रोग शीघ्र प्रभाव डाल लेता है।

कोई भी व्यक्ति रोगी शरीर के साथ जीना पसन्द नहीं करता। नीरोग रहने के लिए आवेशों का संयम अनिवार्य शर्त्त है। असंयमी सदा रोगाक्रान्त रहेगा। अतः स्वस्थ रहने की इच्छा भी मनुष्य को संयमी बना देती है।

संयम में सफलता पाने की चौथी शर्त्त यह है कि मनुष्य के सामने जीवन का, अपने अस्तित्व का या अपने कार्यों का प्रयोजन अवश्य स्पष्ट रूप से रहना चाहिये।

मानसिक विक्षेप से मृत्यु

मानसिक अवस्था के विकृत हो जाने से मनुष्य का मन ही नहीं शरीर भी अस्वस्थ हो जाता है—यह बात मैं पहले कह चुका हूं। वह अस्वास्थ्य इतना भयंकर हो सकता है कि मृत्यु भी हो जाती है। शरीर-शास्त्रवेत्ता ऐसी मृत्युओं का ठीक रहस्य बतलाने में असमर्थ हैं—किन्तु इतनी सचाई को सब स्वीकार करते हैं।

युद्ध के समय बहुत से योद्धा केवल गोली की आवाज़ से ही

मर गये थे। गोली का उन्हें स्पर्श भी नहीं हुआ था। कुछ सैनिक थे, जिन्हें युद्ध की भीषण हत्यायें देखकर इतनी ग्लानि हुई थी कि वे और अधिक न देखने की प्रबल इच्छा के प्रभाव से ही अन्धे हो गये थे।

डाक्टरों ने इस सचाई को मान लिया है कि आकस्मिक उद्वेग, शोक, भय आदि से मनुष्य की मृत्यु हो सकती है। पचास प्रतिशत आदमी शारीरिक ह्रास से नहीं, मानसिक ह्रास के कारण मरते हैं। कोलम्बस अपने अफ़सर द्वारा धोका दिये जाने के बाद बीमार पड़कर जीवित नहीं रह सका। पराजय के आघात से सैंकड़ों मौतें होती हैं। एक औरत ने एक वृक्ष का फल भूल से खा लिया। उसने यह समझा कि वह फल उस वृक्ष का है जिसके सम्बन्ध में यह किम्वदन्ती मशहूर थी कि इस को खाकर मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। वास्तव में वह फल एक साधारण वृक्ष का था। किन्तु अपने मिथ्या भय और अन्ध-विश्वास के प्रभाव से वह औरत १६ घण्टे के अन्दर ही मर गई। भूत-प्रेतों पर विश्वास रखने वाले लोग अपने अन्धविश्वास से ही मर जाते हैं। अमेरिका के कुछ रेड-इण्डियन्स में यह विश्वास है कि खांसी और बुखार के एक साथ आने की बीमारी मौत का पैग़ाम लेकर ही आती है। इसलिये वे खांसी-बुखार के आते ही मौत की तैयारी शुरू कर देते हैं। इसके बाद उन्हें जीवित रहने की इच्छा ही नहीं रहती।

लक्ष्य की प्रेरणा-शक्ति

मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण तभी होता है जब उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियां एक लक्ष्य को दृष्टि में रखकर व्यवस्थित की जाती है। एक पूर्णतया नैतिक आदर्श के नेतृत्व में जब हम अपनी इच्छाओं को नियमित करते हैं तभी चरित्र का निर्माण होता है। यह नियमन या संयम किसी-न-किसी लक्ष्य की साधना में ही संभव है। न केवल यह कि लक्ष्य के बिना संयम का कुछ अर्थ ही नहीं बल्कि यह भी सच

है कि संयम की प्रेरणा भी लक्ष्य-प्राप्ति की इच्छा बिना नहीं मिलती। माँझी को यदि नदी के किनारे पहुंचने की इच्छा न हो तो नौका को चलाने की प्रेरणा कौन देगा? जो लोग संसार की लहरों पर खेलना ही ज़िन्दगी समझते हैं वे कभी संयमित जीवन नहीं बिताते। दूसरे तट पर पहुंचने की इच्छा वाले ही संयम से अपनी जीवन-नौका को एक निश्चित दिशा की ओर खेते हैं। अनेक नहरों द्वारा खेती को सींचने का लक्ष्य न हो तो नदी के बहते पानी को बांधने की आवश्यकता ही नहीं होती। केवल मनोरञ्जन के लिये कोई पानी को नहीं बांधता। यदि बांधे तो भी उस अवस्था में मनोरञ्जन का लक्ष्य तो होता ही है।

संभव है मनुष्य के लक्ष्य का नैतिक मूल्य बहुत थोड़ा हो। यह भी मुमकिन है कि वह बिल्कुल स्वार्थपूर्ण और संकीर्ण हो। वह कैसा भी हो, नैतिक दृष्टि से वह भले ही निष्प्रयोजन और व्यर्थ हो, किन्तु हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के लिये उसका मनोवैज्ञानिक मूल्य तो बना ही रहेगा। यही लक्ष्य हमारी शक्तियों को, मन के संकल्पों और शरीर के प्रयत्नों का पथ-प्रदर्शन करेगा। यही लक्ष्य मनुष्य के व्यक्तित्व को बनाता है।

लक्ष्य सदा स्पष्ट नहीं होता

लक्ष्य का जीवन में इतना महत्वपूर्ण स्थान होते हुए भी कई मनुष्यों के सामने इसका स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। मनुष्य के मानसिक द्वंद्वों का एक कारण भी यही लक्ष्य की अस्पष्टता होता है। ऐसा लगता है मानो उसका कोई लक्ष्य ही न हो; मानो उसके जीवन का कोई प्रयोजन ही न हो। यह अनुभूति उसे सदा असन्तुष्ट बनाये रखती है। और असन्तोष की यह प्रतीति ही इस बात का प्रमाण है कि इस हलचल के पीछे लक्ष्य कोई-न-कोई अवश्य है।

यदि वह सुबह बिस्तर से उठकर दिन भर आवारागर्दी में ही सन्तोष पा लेता है तो समझना चाहिये कि उसका लक्ष्य आवारागर्दी तक ही सीमित है। लक्ष्य-प्राप्ति का सन्तोष ही मनुष्य को सुखी बनाता है। हम दुखी तभी होते हैं जब हमारी प्रवृत्तियों की व्यवस्था सन्तोष-प्रद रीति से न हो। और सन्तोष-प्रद व्यवस्था के लिये लक्ष्य की विद्यमानता आवश्यक शर्त है।

लक्ष्यहीन चेष्टा मनुष्य को संयत नहीं बनने देती

अपना लक्ष्य बनाना आसान होता यदि हमारी प्रवृत्तियां मिट्टी की तरह बेजान होतीं और हम उसे अपने सांचे में डालकर मनमाने खिलौने बना सकते। कठिनाई यही है कि हमारी प्रवृत्तियां इतनी सरल नहीं हैं। वे स्वयं भी अपने को किसी-न-किसी भावना के सांचे में ढालती रहती हैं, और उन भावनाओं के अनुरूप अपना रास्ता आप चुनती रहती हैं।

ये भावनायें भी परस्पर विरोधी होती हैं। मनुष्य को यह चुनना कठिन हो जाता है कि वह किस समय किस भावना को अधिक मूल्य दे। उस समय मनुष्य अपने निर्धारित लक्ष्य के अनुकूल ही चुनाव करता है। अनेक बार ऐसा होता है कि मनुष्य दो भावनाओं को एक साथ मन में पालता रहता है। एक देश का युद्ध जब दूसरे देश से होता है तो हमारी देशभक्ति की भावना का गृह-प्रेम की भावना से विरोध हो जाता है। तब हम देश की रक्षा में ही घर की सुरक्षा है, इस तर्क द्वारा अपनी प्रवृत्तियों की व्यवस्था करते हैं। उस समय हमारा देश-रक्षा का लक्ष्य प्रधान हो जाता है और यह व्यवस्था आदर्श व्यवस्था होती है। यदि इन दो भावनाओं का सामंजस्य न हो सके और हम अपने लक्ष्य का चुनाव न कर सकें तो हमारी शक्तियां किसी भी कार्य में प्रवृत्त नहीं होंगी।

दो विरोधी लक्ष्यों का सन्तुलन कैसे हो?

भावनाओं का निर्माण स्वयं प्रसुप्त चेतना द्वारा होता रहता है। हमें उसके लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसीलिये प्रायः हमारे लिये यह कहना कठिन हो जाता है कि हमारे जीवन का प्रयोजन क्या है। कई प्रयोजन हमें अनुभव होते हैं—और हम उनमें से सबसे मुख्य प्रयोजन की ओर संकेत नहीं कर सकते।

परस्पर विरोधी प्रयोजनों में चुनाव

ये प्रयोजन यदि परस्पर विरोधी न हों तो हमारा यह अज्ञान कि कौन-सा प्रयोजन विशेष है, या कौन-सा साधारण है, हमें कोई कष्ट नहीं देता। किन्तु यदि भावनाओं में विरोध हो जाय तो हमारा मानसिक सन्तुलन बिगड़ जाता है, मन में एक तनाव-सा बना रहता है और हम यह नहीं कह सकते कि हमें हुआ क्या है?

घरेलू वातावरण में पली हुई एक लड़की जब अचानक किसी युवक से मिलकर पुलकित हो उठती है तो उसकी दो भावनाओं में विप्लव-सा हो उठता है। उसकी रूढ़िप्रिय माता-पिता को सन्तुष्ट रखने की भावना भी उतनी ही प्रबल है जितनी प्रथम प्रेम के आनन्द की भावना है। इसी तरह का विरोध मनुष्य के मन में उसकी महत्त्वाकांक्षा की भावना और किसी नैतिक सिद्धान्त की भावना में भी हो सकता है।

अपने आदर्शों के प्रति ईमानदार रहना ही पर्याप्त है

कौन-सी भावना श्रेष्ठ है, कौन-सी अश्रेष्ठ, इसका निर्णय सर्व-साधारण के लिये कठिन काम है। और कोई भी निर्णय सब पर लागू भी नहीं हो सकता। इसलिये अच्छा यही है कि अपने जीवन के लिये मनुष्य स्वयं कुछ नैतिक आदर्शों का निर्धारण कर ले, और उन्हीं की कसौटी पर कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की परीक्षा करे। मनुष्य अपने जीवन के आदर्शों के प्रति ईमानदार रहे तो यह किंकर्त्तव्यविमूढ़ता नहीं सताती।

जो मनुष्य अपने नैतिक आदर्श या अपनी शक्तियों का प्रयोजन निर्धारित कर लेता है उसके लिये संयम बहुत बड़ी समस्या नहीं रहती। वह अपनी प्रवृत्तियों की धाराओं को संयमित करके उनका प्रवाह जिस दिशा में चाहे मोड़ सकता है। यही संयम का सच्चा अर्थ है। किसी भी प्रवृत्ति या कामना का विलोप नहीं हो सकता। उन्हें दबाकर सर्वथा मृत नहीं किया जा सकता। उनकी दिशा में ही परिवर्तन किया जाना संभव है। अथवा उनमें रूपान्तर करना ही अभीष्ट है।

वासनाओं का विलोप नहीं हो सकता, रूपान्तर ही हो सकता है

प्रवृत्तियों का सर्वथा दमन या निरोध करने से मनुष्य का मन स्वस्थ नहीं रहता। हमारी प्राचीन पुस्तकों में संयम की उपयोगिता का वर्णन करते हुए कई जगह यह कहा गया है कि सब विषयों के प्रति सर्वथा अनास्था रखना ही मन को जीतने का उपाय है[1] अथवा यह कि सदैव वासना का त्याग ही संयम कहलाता है[2]। मैं वासनाओं को मनुष्य का वैरी मानना ठीक नहीं समझता। वासनाओं को रचनात्मक वृत्तियों में लगाना ही सच्चा संयम है। प्रकृति स्वयं अपने गुणों में प्रवृत्त होती हैं। जीवन स्वयं एक प्रवृत्ति के सिवाय क्या है? निवृत्ति तो मृत्यु का ही दूसरा नाम है। प्रवृत्तियों का पूर्ण निग्रह हो ही नहीं सकता।

वासनाओं का रचनात्मक वृत्तियों में संलग्न करना चरित्र-निर्माण का मुख्य काम है

---

१. विषयान्प्रति भो पुत्र सर्वानेव हि सर्वथा।
अनास्था परमाह्येषा सायुक्तिर्मनसो जये ॥योग॥

२. सदैव वासना त्यागः शमोयमिति शब्दितः।

निग्रह द्वारा हम प्रवृत्तियों को निःशेष नहीं कर सकते। उनको शरीर से अलहदा नहीं कर सकते। निग्रह एक मानसिक प्रक्रिया है जिसकी सहायता से हम अपनी अन्तरात्मा के प्रतिकूल विचारों को अपने चेतन मन से बाहिर धकेल कर अचेतन मन को क़ैद कर देते हैं। जैसे सपेरा सांप को थैली में बन्द करता है। किन्तु थैली में बन्द करने से सांप का ज़हर दूर नहीं हो जाता। वह सांप उस क़ैद में अपने ज़हर के साथ बैठा रहता है।

सांप को पिटारी में बन्द करने से ही उसका ज़हर दूर नहीं हो जाता

इस तरह हमारे अचेतन मन में बहुत से ज़हरीले सांप बैठे रहते हैं। अनेक तरह की असामाजिक भावनायें, यौन आकर्षण हमारे मन की गुफा में दबे रहते हैं। हीनता की भावना भी वहीं दबी रहती है। हम चेतन मन में इनकी स्थानपूर्ति विरोधी भावनाओं से करते रहते हैं। अचेतन मन में दबी हुई हीन भावनाओं का उत्तर अतिशय आत्म-गर्व से देते रहते हैं। यौन आकर्षण को हम आत्म सन्मान की भावना से दबाये रखते हैं। दबाने की यह प्रेरणा हमें प्रायः सामाजिक व्यवस्था से मिलती है। भले-बुरे की परख भी हम समाज के नियमों की कसौटी पर ही करते हैं। समाज के नियम सदा सच्चे नहीं होते। इसलिये हमारा निग्रह भी सदा सच्चा नहीं होता।

हमारे अचेतन मन में पलने वाले सांपों का निग्रह

निग्रह-निरोध की अति भी मनुष्य के जीवन को निरानन्द और निष्क्रिय बना देती है। चारों ओर से दबा हुआ आदमी आत्म-विश्वास खो बैठता है। उसे हर समय यही खतरा बना रहता है कि कहीं वह कोई ऐसा काम न कर बैठे जिसे दूसरे बुरा समझते हों। जीवन की धाराओं में वह कभी उन्मुक्त मन से नहीं तैरता। वह कोई ऐसा ठहरे से पानी का

अतिशय निरोध मनुष्य को कायर तथा दब्बू बना देता है

सदृशं चेष्टते स्वस्याः, प्रकृते ज्ञानिवानपि
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति—गीता

ताल ढूंढ लेता है जहां उसकी नाव बिना विशेष हिल-जुल के पड़ी रहे। ऐसा आदमी कायर और दब्बू हो जाता है। वह पुरानी रूढ़ियों के कूएं का मेंढक बन कर ही सारी ज़िन्दगी गुज़ार देता है।

अतः निग्रह में भी अति नहीं करनी चाहिये। अपने जीवन को सुखी बनाने के लिये मनुष्य मात्र प्रयत्न करता है। मनुष्य स्वभाव से नैतिकताप्रिय है। यदि वह किन्हीं अस्वाभाविक संघर्षों का शिकार नहीं है तो अपने सुख की पहचान वह स्वयं कर सकता है। अपने नैतिक आदर्शों का चुनाव भी वह कर सकता है। निग्रह में भी

सच्चा संयम संयत व्यवहार (Moderation) में है

उसे इसी विचार-स्वातन्त्र्य से काम लेना चाहिये। सच्चे सुख की चाह करने वाला स्वयं संयम का मार्ग ग्रहण करेगा। सुखार्थी स्वयं संयत-हो जाता है? संयम का सच्चा भाव अंग्रेज़ी के शब्द Moderation में आ जाता है। अंग्रेजी की इस कहावत में बड़ी सच्चाई है कि "Moderation is the silken string running through all virtues."—अर्थात् संयत-व्यवहार रेशम की ऐसी डोरी है जो सब कल्याणमयी भावनाओं को पिरोती है।

संयम पर इतना अधिक बल देने का यह अभिप्राय नहीं है कि संयम ही चरित्र-निर्माण है अथवा यह कि संयम स्वयं कोई साध्य वस्तु है। संयम का अभ्यास केवल संयम की पराकाष्ठा पाने के लिये नहीं हो सकता। यह तो चरित्र बनाने का एक साधन मात्र है। अन्य साधन भी हैं—यह भी उनमें से एक है।

संयम को ही साध्य मानना भारी भूल है

कुछ लोग संयम को ही साध्य मान कर हठयोगी हो जाते हैं या कायाकष्ट को ही धर्म मान कर हठधर्मी बन जाते हैं। शरीर को स्वाभाविक वृत्तियों के कार्य से बलपूर्वक रोकना शरीर और मन दोनों

के लिये अस्वास्थ्यकर होता है। वासनाओं का परित्याग नहीं हो सकता। हां—उनका महत्करण (Sublimation) हो सकता है। महत्करण के लिये संयम पहली शर्त्त है। किंतु अकेला संयम ही इस कार्य को पूरा नहीं कर सकता। महत्करण के लिये महत्कार्यों का ज्ञान और उन्हें सिद्ध करने की अन्य योग्यतायें भी होनी चाहियें। यह महानता, यह सत्त्व, महान् कार्यों के उपकरणों में नहीं बल्कि महान् कार्यों की आत्मा में होता है![1] यही सत्त्व है जिसे हम चरित्र कहते हैं। यही बल है जिसे चरित्र कहा जाता है। तभी इसे आत्म-बल भी कह सकते हैं। शरीर और बुद्धि के बल से यह सर्वथा भिन्न और ऊँचे दर्जे का है।

अपने विश्वास के लिये मरना ही चरित्र-पूर्ण जीवन की विजय है

आत्म-बल या चरित्र-बल की बहुत सी अस्पष्ट-सी परिभाषायें हैं किन्तु एक बात शतप्रतिशत सच है कि जो व्यक्ति अपने विश्वास पर जान तक कुर्बान कर देता है, उसे ही हम आत्मिक-बल-सम्पन्न या दृढ़-चरित्र मानते हैं। इसलिये चरित्र का सम्बन्ध भावनाओं की व्यवस्था से है, बौद्धिक या शारीरिक व्यवस्था से नहीं। अपने विश्वासों पर सच्चे रहना और उनके लिये बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने वाला ही साधारण भाषा में ऊँचे चरित्र का कहलाता है। अतः यदि हम यह कहें कि चरित्र में दृढ़ता और कुर्बानी का महत्त्व सब से अधिक है तो उपयुक्त ही होगा।

चरित्र ओजस्विनी शक्ति है, प्रसुप्त कल्पना नहीं

यह दृढ़ता उसी में होगी जो अपनी आत्मा को दुनियावी चीज़ों से ऊपर मानेगा, आत्मा की महानता से परिचित होगा, जिसे अपने पर भरोसा होगा, जो बहादुर होगा, ऊँचे आदर्शों की रक्षा के लिये क्षणिक आनन्द की कुर्बानी करना जानता होगा, जिसे भविष्य पर श्रद्धा होगी, जो स्वतंत्र रूप से विचार करके किसी निर्णय पर पहुंचने की क्षमता रखता

1. सतां सिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे—

होगा और उस निर्णय पर अटल रहने का बल रखता होगा। सच तो यह है कि चरित्र कोई प्रसुप्त गुण नहीं है। यह एक (Dynamic force) ओजस्विनि शक्ति है। इसी के लिये हमारे शास्त्रों में कहा गया है कि वह अणु से अणु, महान् से महान् बनकर मनुष्य के हृदयमें निवास करता है। मनुष्य अपनी वासनाओं पर विजय पाने के बाद ही उसकी महानता को देख सकता है।[1]

चरित्र ही आत्मबल का व्यावहारिक रूप है

महाभारत में व्यास मुनि ने जब यह कहा था कि यदि आत्मा का किसी ने संयम कर लिया है तो मौत भी उसका क्या बिगाड़ेगी[2], तब उनका आत्मा से अभिप्राय चरित्र से ही था। गीता में भी जब यह कहा है कि आत्मा से ही आत्मा का उद्धार करो, आत्मा ही आत्मा का बन्धु है, आत्मा ही शत्रु, आत्मा से ही आत्मा को जीतो, तब प्रथम आत्मा का अर्थ सर्वत्र चरित्र ही है[3]। चरित्र से आत्मा का उद्धार करो। चरित्र ही आत्मा का बन्धु है और दुश्चरित्र ही शत्रु है। चरित्र से ही आत्मा को जीतो, जितात्मा बनो, यही अभिप्राय हमारे ऋषियों का है और यही भगवान बुद्ध का था जब उन्होंने आत्मा के इस सच्चे मित्र का वर्णन किया था।

---

१ अणोरणीयान् महतो महीयान्, आत्मास्यजन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वति शोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः।

२. आत्मा संयमितो येन यमस्तस्य करोति किम्। महाभारत

३. उद्धरेदात्मनात्मानं, नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैवह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मा आत्मनोजितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।

चरित्र का बल ही आत्मा का बल है। हम वैसे ही होंगे जैसा हमारा चरित्र होगा। हम अपनी प्रवृत्तियोंकी व्यवस्था उसी योग्यता से कर सकेंगे जो योग्यता हम अपने चरित्र या अपनी आत्मा में पैदा करेंगे। यह योग्यता विरासत में नहीं मिलती। इसे निरन्तर अभ्यास से पैदा किया जाता है। चरित्र विरासत में नहीं मिलता। हम माता-पिता से कुछ स्वभावों (Characteristics) को अवश्य विरासत में पा सकते हैं किन्तु चरित्र को नहीं। कोई भी बच्चा जन्म से सच्चरित्र या दुश्चरित्र नहीं होता। हां, वह ऐसी परिस्थितियों में अवश्य पैदा होता है जहां उसका चरित्र सबल या निर्बल बन सके। किन्तु परिस्थितियां ही चरित्र को नहीं बनातीं। परिस्थितियों के प्रति हमारे मन की जो प्रतिक्रिया होती है वही चरित्र का निर्माण करती है। उस प्रतिक्रिया को स्वस्थ बनाना ही सबसे बड़ी शिक्षा है। यह शिक्षा अक्षर-विज्ञान की तरह किसी गुरु द्वारा नहीं दी जा सकती। मनुष्य स्वयं अपना गुरु है। वह स्वयं निरीक्षण से और अभ्यास से सीखता है। इस अभ्यास को क्रियात्मक रूप किस तरह दिया जा सकता है, या जीवन के नित्यप्रति के कार्यों में किस तरह चरितार्थ किया जा सकता है, इसका अगले कुछ पृष्ठों में निर्देश किया जायगा।

चरित्र विरासत में नहीं मिलता

अपनी महानता को पहचानो

मनुष्य अपनी छिपी हुई शक्तियों को पहचाने बिना शक्तिशाली नहीं बन सकता। जो जैसा अपने को जानता है वैसा ही बन जाता है।[१] अपने को जानना सब सिद्धियों में बड़ी सिद्धि है। लाखों में से एक होता है जो अपने को जानने का यत्न करता है और उन यत्न करने वालों में भी कोई ही होता है जो वास्तव में अपने को पहचान पाता

१. श्रद्धामयोऽयं पुरुषः योयच्छ्रद्धः स एव सः।

है[1]। जीवन की यात्रा में सहस्त्रों आदमी आत्मा के द्वार तक पहुंचते हैं किन्तु थोड़े ही हैं जो प्रवेश पाते हैं[2]।

हमारा अन्तःकरण सदा निर्मल रहता है

अपने को पहचानना आसान काम नहीं है। हमारा असली व्यक्तित्व इतना स्पष्ट है, परदों में नहीं रहता, फिर भी वह अपनी इच्छा से इतने परदों से छुपा हुआ है कि उसके असली स्वरूप को जानना टेढ़ा काम है।[3]

हमारे प्राचीन विचारकों का विश्वास था कि मनुष्य ईश्वर का वरद् पुत्र है, अमृत पुत्र है। बाइबल ने भी कहा है, दुनिया का सम्पूर्ण साम्राज्य हम में है—उसे जानो। तुम्हारा हृदय ही ईश्वर का मन्दिर है[4]। जो अपने को जान लेता है। उसका चरित्र सदा उज्वल रहता है। अपने आचरणों की परीक्षा के लिये उसे कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं रहती। आत्मतुष्टि ही उसके लिये कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के निश्चय में सबसे बड़ी परख है, जिस काम की आज्ञा उसका हृदय-स्थित अन्तःकरण देता है वही वह करता है[5]। अब

---

१. मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततां च सहस्त्राणां कश्चिन्मां वेत्तितत्वतः।

२. Strait is the gate that leadeth unto life, and few there be that find it. Few are chosen though many come. (बाइबल)

३. न कोई परदा है उसके दर पर, न रूये रोशन नकाब में है।
तू आप अपनी खुदी से ऐ दिल, हिजाब में है हिजाब में है।

४. Behold, the kingdom of God is within you, y are the temple of God.

५. हृदयेनाभ्यानुज्ञातः, मनः पूतं समाचरेत्।
स्वस्य च प्रियमात्मानः परितोषोन्तरात्मनः।
स्वस्यैवान्तर पुरुषः आत्मानस्तुष्टिरेव च।
चं जो नाभिशंकते, धर्मोदेवोहृदिस्थितः ॥ महाभारत ॥

उसे कोई सन्देह होता है तब वह अपना दिल टटोलता है। दिल का फैसला ही उसका फैसला होता है[1]। हमारा हृदय ही हमारे कल्याण की कामना करता है। हम उससे कुछ छिपा नहीं सकते। वह हमारे विचारों और संकल्पों को भी देखता रहता है। उसे हम धोखा नहीं दे सकते। वह सदा साक्षी बनकर हमारे हृदय में रहता है। उसकी चेतावनी को अनसुनी करके, उसे असन्तुष्ट करके जो काम हम करते हैं, वह पाप है। उस पाप का दण्ड हमें उसी समय मिल जाता है[2]। हमारे मन को शान्ति नहीं मिलती।

अपने विशेष गुणों को पहचान कर उनका विकास करना चाहिये

अज्ञानी लोग ही दूसरों को जानने की कोशिशें करते हैं। ज्ञानी वही है जो अपने को जानने की कोशिश करता है। चीन के विचारक कन्फ्यूशस ने लिखा है "What the undeveloped man seeks is others, what the advanced man seeks is himself." चीन के एक और दार्शनिक शिन्तो का विश्वास था कि मनुष्य स्वयं दिव्य है; मनुष्य के हृदय से ऊंचा कोई देवता नहीं है[3]।

अपनी महानता को न पहचान कर ही मनुष्य दुश्चरित्र बनता है। महानता से हमारा अभिप्राय केवल आध्यात्मिक महानता नहीं है।

---

१. सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः ॥

२. हृदिस्थितः कर्मसाक्षी क्षेत्रज्ञो नास्यतुष्यति।
तं यमः पापकर्माणां निर्भत्स्यति पुरुषम् ॥ महाभारत आदि पर्व ॥

३. There exists no highest deity outside the human mind. Man himself is Divine.

हमारा संकेत केवल उन विशेष गुणों से है जो मनुष्य के चरित्र को बनाते हैं। जो मनुष्य अपने विशेष गुणों को नहीं पहचानता वह किसी भी क्षेत्र में उन्नति नहीं कर सकता।

हमारी विशेषतायें सामाजिक बन्धनों की जंजीर में दम तोड़ देती हैं

साधारणतया हर इन्सान से यह उम्मेद की जाती है कि वह अपने गुणों से परिचित होगा। और यह भी कि वह अपने श्रेष्ठ स्वरूप को ही दुनियां के सामने रखेगा। हर एक को अपने से पूछना चाहिये कि वह अपनी उत्कृष्टताओं का कितना अंश अपने कार्यों द्वारा संसार के सामने प्रगट करता है और कितना अंश ऐसा है जो झूठे बन्धनों में बंध कर या झूठी शर्म के परदों में छिप कर नष्ट हो जाता है। दूसरों के बन्धनों व छल-छद्म को देखने में तो हमारी आंखें चील से भी तेज हो जाती हैं किन्तु अपनी जंजीरों को हम देख भी नहीं पाते। कई बार जब कोई बहुत अभद्र व्यवहार करता है तो हम कह उठते हैं "नहीं-नहीं, वह वास्तव में ऐसा नहीं है, असल में वह बड़ा नेक आदमी है। उसकी अशिष्टता पर ध्यान न दो। उसका दिल बड़ा साफ़ है"। कोई कड़वा बोले तो हम कह देते हैं "यह तो उसकी ज़बान का ही कड़वापन है। उसे गाली बकने की आदत पड़ गई है। दिल से वह बड़ा मीठा और ईमानदार आदमी है"। कीचड़ में ही कमल पैदा होते हैं। पहाड़ की चट्टानों में से ही झरने निकलते हैं। मनुष्य के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति भी इतनी ही सुन्दर होनी चाहिये। यदि ऐसा नहीं होता तो हमें उसके कारणों की तलाश करनी होगी। स्वभाव से महान् मनुष्य यदि पतन के मार्ग पर चल पड़े तो हमें उन बाधाओं को दूर करना पड़ेगा जो उसे अपने रास्ते पर चलने से रोकती हैं। और उन विकृत भावनाओं को दूर करना होगा जो उसे अनुभूति नहीं होने देतीं।

हीन-भावना चरित्र की वैरिन है

एक बार गिरकर उठने की आशा छोड़ देने वाले प्रायः दीन हो जाते हैं

इन विकृत-भावनाओं में सब से संघातिक भावना स्वयं को दीन-हीन मानने की भावना है। दीनता मनुष्य की सबसे बड़ी शत्रु है। दीनता-ग्रसित व्यक्ति कभी चरित्रवान् नहीं बन सकता। "मैं नाचीज़ हूँ" ये शब्द कहने वाले या तो वे पाखंडी होते हैं जो दूसरों के मुख से "आप बादशाह हैं" सुनना चाहते हैं या वे गिरे हुए आदमी होते हैं जो गिरकर उठने की आशा छोड़ चुकते हैं। स्वयं को अकिंचन मानना विनय नहीं है। इस उक्ति द्वारा हम अपनी कायरता की घोषणा करते हैं। कुछ लोग अपने अक्खड़पन को और गर्वित व्यवहारों को छिपाने के लिये भी इन शब्दों का प्रयोग किया करते हैं।

भाग्य पर जीने वाले दीनता को अपनाते हैं

इस तरह स्वयं को धिक्कारने वाले लोग प्रायः वही होते हैं जो अपनी अधोगति के लिये भाग्य को दोषी ठहराते हैं। वे अपने उत्कर्ष के लिये सच्चा प्रयत्न करने के स्थान पर दुनियां भर की शिकायत करने को तैयार रहते हैं। यदि वे अपने काम में अयोग्य होने के कारण स्थानच्युत कर दिये जायंगे तो अपनी त्रुटियों पर ध्यान नहीं देंगे बल्कि यही कहेंगे "ज़माना बुरा है। सब मेरी व्यर्थ शिकायत करते हैं। मालिक अपनी आंख से नहीं देखता। वह कान का कच्चा है।" उसे यह कभी नहीं सूझेगा कि उसने पूरी मेहनत और ईमानदारी से काम नहीं किया।

दीनता-प्रकाशन का यह रोग प्रायः ऐसे व्यक्तियों में ही देखा गया है जो अपने को दुनिया का अनोखा हीरा समझते हैं। पहले अपनी दृष्टि में उनका मूल्य इतना ऊंचा होता है कि जब कल्पित अभिमान ठुकरा दिया जाता है तो वे मुंह के बल नीचे गिरते हैं। पहले उनकी धारणा यह होती है कि दुनिया उनको हर समय सिर आँखों पर उठाये रखे, उनके साथ सबसे जुदा विशेष व्यवहार हो। किन्तु जब वे देखते हैं कि जीवन के सागर में उन्हें भी ऊंची नीची लहरों की थपेड़ बर्दाश्त करनी पड़ती हैं; या उन्हें भी दूसरों की तरह चक्की में पिसना पड़ता है तो उनके स्वप्न टूट जाते हैं। उनके कल्पना-लोक में भारी विप्लव आजाता है। तब वे संभल नहीं पाते। स्वप्न-संसार में विचरने वाला उनका मन जीवन के क्रियात्मिक अनुभव पाने से इन्कार कर देता है। और तब वे इस आत्मवंचना में ही शरण लेते हैं कि सारा ज़माना उनका दुश्मन है। यह कल्पना उनके मन पर इतनी छा जाती है कि वे अपने को अकेले और निःसहाय अनुभव करने लगते हैं। और अपनी निःसहायता का विज्ञापन करने के लिये दीनता-प्रकाशन का पेशा अख्तियार कर लेते हैं।

अतिशय स्वाभिमान भी विछिन्न होकर दीनता में बदल जाता है

अन्य मानसिक विकारों की तरह दीन-भावना का विकास भी मनुष्य के बाल-काल की परिस्थितियों में होता है। जिस बच्चे को मां-बाप का आत्यधिक लाड़-प्यार हो, जिसे खुद गिर-गिर कर चलने का अभ्यास न डाला हो बल्कि हर ठोकर पर गोदी की शरण दी गई हो, उसे बड़े होकर जब हर कदम पर ठोकरें खानी पड़ें तो वह हारकर दीनता की शरण चला जाता है। जो बच्चे आसानी से लाखों का धन पा जाते हैं उन्हें ज़िन्दगी का खेल खेलना नहीं आता। कभी यह खेल

मां-बाप बचपन से ही दीनता का बीज बो देते हैं

खेलना पड़ जाय तो वे पहिली हार में ही "मैं और नहीं खेलता—सब मुझे धोखा देते हैं" कहकर एक कोने में मुंह फुला कर बैठ जाते हैं। ऐसे अति लालित बच्चे जीवन भर पछताते हैं। उन्हें सबसे लाड़-प्यार या विशेष व्यवहार पाने की आशा बनी रहती है। वह न मिलने पर उनकी बेबसी बढ़ जाती है। हर समय वे अपने को दीन, हीन और असहाय अनुभव करते हैं।

परवशता दीनता की जननी है; श्रमजीवी परवश नहीं होते

दीनता की भावना मनुष्य के मन में तभी जागती है जब वह किसी की वश्यता स्वीकार करता है। पेट के लिये, पैसे के लिये या किसी भी स्वार्थ से जब उसे दासता के जूए में जुतना पड़ता है तो उसकी आत्मा मर जाती है। परवशता ही दीनता की जननी है। इसीलिये नौकीरी करके पेट भरने वाला आदमी प्रायः-दीनताग्रस्त होगा। किन्तु यह ज़रूरी नहीं कि हर नौकर दीन हो। जो मनुष्य अपनी योग्यता के भरोसे नौकर होगा उसके स्वाभिमान पर कभी आघात नहीं पहुंचेगा। उसकी नौकरी का अर्थ केवल परस्पर सहयोग होगा। वेतनभोगी होने का अर्थ ही दीन होने से नहीं है। वेतन पाने वाले भीख नहीं पाते, अपना हक पाते हैं। वे अपने श्रम का मूल्य अपने अधिकार से लेते हैं।

अधिकार से अधिक चाहने वाला ही दीन हो जायगा

हां—जो अपने श्रम से अधिक मूल्य चाहेगा, उसे दीन बनना होगा। अपने श्रम का उचित मूल्य पाने वाले वेतनभोगी प्रायः पूंजीपति को ही अपना गुलाम बना लेते हैं। जहां कोई अपने अधिकार की मर्यादा में पारिश्रमिक लेता है वहां दीनता का प्रश्न ही नहीं उठता।

मेरा तो विश्वास है कि संसार की बाहर की कोई भी शक्ति सच्चे आदमी को दीन नहीं बना सकती। उसकी भीतर की वासना ही उसे दीन बनाती है। जब उसका लोभ बढ़ जाता है तो वह अनैतिक उपायों से अपनी वासना को तृप्त करने के साधन जुटाना चाहता है। अपनी वासनाओं का गुलाम बन कर ही वह परिस्थितियों व मनुष्य का गुलाम बनता है।

सच्चा आदमी कभी दीन नहीं बनेगा

इसलिये दीनता से मुक्ति पाने की इच्छा रखने वाले को सबसे पहले अपनी वासनाओं से मुक्ति पानी होगी; शारीरिक विलास की इच्छा और भोगों में असाधारण प्रवृत्ति को छोड़ना होगा।

मैं निवृत्ति-मार्ग का पोषक नहीं हूं। किन्तु, प्रवृत्ति उसी सीमा तक होनी चाहिये जहां तक मनुष्य की योग्यता है। प्रत्येक मनुष्य की अपनी सीमा होती है। उससे बाहिर जाने का यत्न करना अपने पर अत्याचार करना है। मेरी योग्यता यदि २०० रुपये मासिक की है तो मुझे ५०० का लोभ करके अपनी असमर्थता के लिये दीन नहीं बन जाना चाहिये। अपनी समर्थता का अनुमान मनुष्य स्वयं लगा लेता है। सामर्थ्य के अनुकूल पुरस्कार पाने की ही आशा रखकर कार्य करना चाहिये। अधिक की चाह मनुष्य को अशान्त और बीमार बना देती है।

प्रवृत्ति की सीमा मनुष्य की योग्यता के अनुकूल होनी चाहिये

प्रायः दूसरों को अपने से अधिक सम्पन्न देखकर ही यह चाह आदमी में पैदा होती है। औरों के मुकाबिले में अपने को नीचा देखकर मनुष्य का मन विक्षिप्त हो जाता है। दूसरों की तराजू में अपने को तोलने का विचार जब मनुष्य के मन में आये तो उसे समझ लेना चाहिये कि उसका मन रोगी है। यह तोल कभी सच्चा नहीं होता। हम दूसरों के

दूसरे की तराजू पर अपने को तोलना दीनता की पराकाष्ठा है

सुखों को देख सकते हैं, उनकी तकलीफ़ों का अनुमान नहीं कर सकते। प्रत्येक व्यक्ति अपने अच्छे पहलू को ही दूसरों के सामने लाता है। इसका यह मतलब नहीं कि उसका दूसरा पहलू है ही नहीं। अपने कष्टों को आदमी अकेला ही झेलता है। एकान्त में बैठकर ही उनसे सुलझने की कोशिश करता है। उसकी इस कष्ट-कहानी से अपरिचित होने के कारण लोग उसे केवल सुखी ही समझते हैं। इसलिये उनकी धारणा एकपक्षीय होती है। उस धारणा की रस्सी से अपने आत्म-सन्मान का गला घोंटना निरा पागलपन है।

समान स्थिति के लोगों से मिलना स्वास्थ्यकर है

इस विक्षिप्त मनोवृत्ति को वश में करना चाहिये। और यदि कोई कमजोर आदमी वश में न कर सके तो उसे चाहिये कि वह अपने से अधिक समर्थ व्यक्तियों के सम्पर्क में आना छोड़ दे। सच तो यह है कि जो लोग अपने दर्जे से ऊँचे दर्जे के लोगों में लोभवश मेल-जोल बढ़ाते हैं, प्रायः वही दीनता का रोग पाल लेते हैं। इस मेलजोल का जो कि समान-शील-व्यसन वाले व्यक्तियों में नहीं होता, आधार ही स्वार्थ होता है। इसलिये उसका परिणाम कभी अच्छा नहीं होगा।

दीन-भावना का उद्भव प्रायः मन की आन्तरिक अवस्था से होता है इसलिये मैंने इसके रोगी को आत्म-निरीक्षण द्वारा ही इसका उपचार करने की सलाह दी है। किन्तु कई अवस्थाओं में कुछ ऐसी परि-स्थितियां भी कारण बन जाती हैं—जो रोगी के वश में नहीं होतीं। परिस्थितियों का ईमानदारी से मुकाबिला करते हुए भी वह दीन-भावना से पराजित हो जाता है।

आज की सभ्यता ने विज्ञान की सहायता से भौतिक वैभवों को इतना विराट रूप दे दिया है कि मनुष्य की आत्मा उनके भार से दब गई है। मनुष्य भी केवल विश्व की वैभव-वृद्धि में निर्जीव पुर्जे की तरह सहायक भाग रह गया है। मशीनरी के पुर्जों के समान ही उसका उपयोग किया जाता है। उसकी स्वतन्त्र रचनात्मक-वृत्तियां

आज की सभ्यता ने मनुष्य को एक जड़ प्रजा बनाकर बहुत दीन बना दिया है

मर चुकी हैं। उसे किसी भी सम्पूर्ण रचना का परितोष प्राप्त नहीं होता। वह भी एक निर्जीव विद्युत-संचालित मशीन की तरह हिलता-डुलता है। बिजली और भाप के दैत्यकाय यन्त्रों की शक्ति के सामने मनुष्य की शक्ति को हेच समझा जाता है। आत्मिक संसार में अवश्य मनुष्य की मनुष्यता का कुछ मान शेष है किन्तु उसका आत्मिक अस्तित्व काग़ज़ी नाव की तरह क्षणभंगुर है। देव-मन्दिरों या विचारकों की पुस्तकों में ही मनुष्य के नैतिक जीवन का कुछ मान होता है। धन की खोज में मनुष्य ने अपने को मिटा दिया है, अपनी आत्म-प्रतिष्ठा का दीवाला निकाल कर दीनता स्वीकार करली है।

इस दीन भावना से मनुष्य को छुटकारा न मिले तो अच्छा यह है कि मनुष्य दीनता के कारण का ही समूलो-न्मूलन कर दे। जो घटना या व्यक्ति मनुष्य को दीन बनाता है, उसे छोड़ देना चाहिये। मां-बाप अपने कठोर नियन्त्रण से और पति

दीनता मनुष्य के मन में घृणा भर देती है

पत्नी की परवशता का लाभ उठाकर बच्चों या पत्नी को दीन बना देते हैं। यह दीनता जब आत्मघाती हो जाय तो मनुष्य का पवित्र कर्त्तव्य है कि वह इस परवशता के जाल को तोड़ दे। प्रेम के सम्बन्धों में दीनता की भावना आना ही प्रेम के अभाव की सूचना है। सच्चे अर्थों में प्रेम करने वाला व्यक्ति कभी अपने मित्र को दीनता में नहीं देखना चाहेगा। यदि कोई मित्र या पिता ऐसा चाहे तो वे सच्चे मां-

बाप नहीं। दीनता की मनोवस्था घृणा की जननी है। मैं जिसके समक्ष दीन बनने का यत्न करूंगा उसे हृदय से घृणा करूंगा। प्रेम समतल के व्यक्तियों में होता है। स्वयं को औसत दर्जे से अधिक बुद्धिमान मानकर जो व्यक्ति अपने साथी को दबायेगा, वह घृणा का पात्र हो जायगा।

अदण्डित अपराधों की स्मृति मनुष्य को दीन बनाती है

दीनता की ग्रन्थियों का प्रदर्शन मन की अनेक अवस्थाओं में होता है। कई बार उन अवस्थाओं से अपनी दीनता का माप-तोल नहीं हो पाता। उसके लक्षण मन की भिन्न २ अवस्थाओं में नज़र आते हैं। हम उन्हें पहचान नहीं पाते। अपराध की स्मृति मनुष्य को दीन बना देती है। जो अपराध एकान्त में किया गया हो, जिसका साक्षी केवल अन्तःकरण हो, उसका दण्ड भगवान की ओर से यही मिलता है कि मनुष्य दीनता अनुभव करने लगता है। उसकी आत्मा कमज़ोर हो जाती है। इस तरह के अदण्डित अपराध मनुष्य को ज्यादह सताते हैं।

दिल में बसी दीनता छिपती नहीं है। मनुष्य उसे छिपाने के लिये कितने ही गर्वसूचक आचरण कर ले, उसकी आंखें और उसकी मुखमुद्रा हृदय के सच्चे दर्पण बन कर सचाई को दुनिया के सामने रख देती हैं।

असुन्दर व्यक्ति भी प्रभावशाली व्यक्तित्व रख सकते हैं

कुछ लोग असुन्दर होने के कारण सदा दीनता का भाव लिये रहते हैं। किसी की नाक ज़रा दबी हुई है या आंखों की भवें बहुत घनी हैं या चेहरे पर चेचक के दाग हैं—इनकी चेतनता सदा उनके मन में जागृत रहती है। उन्हें जान लेना चाहिये कि भद्दी-से-भद्दी सूरत वाला आदमी भी शक्तिशाली व्यक्तित्व बना सकता है। थोड़ा-सा बनाव-सिंगार और

पोशाक का अनुकूल चुनाव किसी भी मनुष्य को आकर्षक व्यक्तित्व दे देता है। व्यक्तित्व के निर्माण में शारीरिक गठन की अपेक्षा मानसिक गठन अधिक प्रभाव रखता है। शरीर से सुन्दर किन्तु मूर्ख आदमी की ओर समाज में कोई आकृष्ट नहीं होता। स्त्रियां भी ऐसे मूर्खता के सुन्दर पुतले से आकृष्ट नहीं होतीं। इसलिये असुन्दर व्यक्ति को असुन्दरता के कारण दीन होने की कोई ज़रूरत नहीं है।

दीन-भावना को दूर करने के उपायों पर मैं पीछे प्रकाश डालूंगा। पहले यह जान लेना चाहिये कि दबी हुई दीनता अनेक प्रकार से प्रगट होती है। मुझे एक लड़की ने बतलाया कि उसकी छोटी बहन कई बार बड़ी बददिमाग़ हो जाती है। उसे ऐसे ही काम में मज़ा आता है जिनसे मैं परेशान होऊँ। मैं जब पढ़ने बैठती हूं तो

हम दीनता को छिपाने के लिये सब काम ऊँचे स्वर और भारी प्रदर्शन से करते हैं

वह रेडियो का स्वर खूब ऊँचा कर देती है और जब मेरे कोई मित्र आये हों तो रसोई में जाकर कोई-न-कोई बरतन गिरा देती है। इसका क्या इलाज है? मैंने उसे कहा कि—"अपनी छोटी बहन को उद्दण्ड बनाने में तुम्हारा हाथ है। तुम बचपन से उस पर कठोर शासन करती आई हो। उसमें दीनता की ग्रन्थियां बन गई हैं। इस दीनता को छिपाने के लिये वह सब काम ऊँचे स्वर से करती है। दिल ही दिल में वह तुम से घृणा करती है। अच्छा यही है कि तुम उससे अलहदा हो जाओ। पानी और तेल अलग-अलग धमत्व के कारण घुल-मिलकर नहीं रह सकते। जुदा-जुदा ही रहेंगे। इसी में तुम्हारा कल्याण है।"

एक मित्र ने मुझे लिखा कि "जब मैं बालक था तो मुझे हस्त-मैथुन की आदत पड़ गई थी। यद्यपि एक दो साल से ज्यादा मैं इस आदत का शिकार नहीं रहा, किन्तु मैंने सुना था कि इस आदत का प्रभाव ४० वर्ष की अवस्था के बाद यह होता है कि मनुष्य पागल हो जाता है। मैं अब ४३ वर्ष की उम्र में

पागल व्यक्ति प्रायः दैन्य-ग्रसित होते हैं

हूं। मेरी याददाश्त सचमुच कमज़ोर हो गई है। कई बार मेरा दिमाग़ सन्न-सा पड़ जाता है। कहीं मैं पागल तो नहीं हो जाऊँगा ?"

मैंने उसे लिखा कि "आजकल हस्तमैथुन को हौआ बनाने की प्रथा चल पड़ी है। इसकी बुराइयों को अतिरंजित करके बालकों को इससे बचने की हिदायतें दी जाती हैं। मैं नहीं समझता कि तुम्हारी बचपन की उस आदत का कोई भी प्रभाव इस समय तुम्हारे स्वास्थ्य पर पड़ेगा। हां, यदि इसे हौआ समझते रहे तो मुमकिन है तुम्हारी विचार-शक्ति निर्बल पड़ जाय और तुम सचमुच पागल हो जाओ। इसलिये तुम इस भय को मन से निकाल दो।" अपराधी स्वयं दीन हो जाता है। अपराध भले ही कल्पित हो, दैन्य केवल कल्पित नहीं रहता। वह अपना प्रभाव अवश्य दिखलाता है। पागल व्यक्ति प्रायः दैन्य-ग्रसित होता है। उसकी अतिशय वृत्तियां अपनी दीनता को छिपाने के लिये होती हैं।

बचपन की कुचली हुई इच्छायें मन में दीनता का बीज बो देती हैं

दैन्य-ग्रसित व्यक्तियों से मेरा आग्रह है कि वे हिम्मत न हारें। दैन्य मनुष्य का जन्मजात रोग नहीं है। पिछले जन्म के संस्कारों से मनुष्य में दीनता का स्वभाव नहीं बनता। प्रायः बचपन की अवस्था में, जब हमारी आत्मा असावधान होती है, माता पिता की नियन्त्रण वृत्तियां या जीवन की कुचली हुई इच्छायें हमारे मन में दीनता का बीज बो देती हैं। यही बीज अंकुरित होकर दीनता का विष-वृक्ष बन जाता है। इसकी जड़ें हमारी आत्मा को चारों ओर से जकड़ना शुरू कर देती हैं। जब तक हम होश संभालते हैं तब तक हम इसके वश में हो चुके होते हैं। हम इसे अपना सहज स्वभाव मानकर निश्चिन्त हो जाते हैं। कुछ लोग इस दीन-भावनाको विनय, मृदुलता आदि नाम देकर झूठी आत्म-तुष्टि कर लेते हैं। वे कहने लगते हैं कि "आखिर जीवन एक समझौतेका नाम है। सिर झुका कर न चलें तो सिर कटने का डर रहता है। आंधी

से बड़े बड़े वट-वृक्ष धराशायी हो जाते हैं किन्तु बेंत की बेल का कुछ नहीं बिगड़ता। ज़मीन पर उगी हुई घास हवा के झोंकों में लहरा कर आंधी का स्वागत करती है।" ऐसे आदमी अवसरवादिता को ही जीवन का क्रियात्मिक मार्ग मान लेते हैं। उनके मत में आदर्शों के लिये जीना झूठा अहंकार है।

'प्रकृति को अपना कार्य करने की छूट देनी चाहिये। मनुष्य की हस्ती ही क्या है! जो सांस आराम से लिया जाय, ले लो, न जाने कब मृत्यु का द्वार खुल जाय?' ऐसे भीरु व्यक्तियों के सम्बन्ध में मेरा यह विश्वास है कि वे केवल सांस लेते हैं, जीते नहीं हैं; उनकी नसों में गरम खून नहीं मौत का ठण्डा पानी चलता है; उनके मन में श्मशान की शान्ति रहती है। वे जीते हैं किन्तु उनकी आत्मा मर चुकी होती है। दैन्य को स्वीकार करने वाला पुरुष जीते-जी मर जाता है। वह तभी तक जीता है जब तक उनमें दैन्य के प्रति विद्रोह रहता है, जब तक वह यह सोचता है कि "इस बेइज़्ज़ती की ज़िन्दगी से तो मौत अच्छी"। मनुष्य निर्धन हो या धनी, शिक्षित हो या अशिक्षित, बालक हो या तरुण, तभी तक जीना चाहता है जब तक सम्मान के साथ जीना मिले। सम्मान पर ठेस लगने से पहले वह ईश्वर से मौत की भीख मांग लेता है। किन्तु, मौत मांगने से नहीं मिलती। मौत मिले न मिले, जीते-जी मर जाना तो सब के हाथ की बात है। दैन्य स्वीकार करने वाला यही करता है, वह जीतेजी मर जाता है। उसके जीवन के आनन्द मर जाते हैं, जीवन के आदर्श मर जाते हैं, जीवन की सब अनुभूतियां मर जाती हैं। एक बार मरना कष्टप्रद नहीं होता; प्रतिक्षण मरने की यह प्रक्रिया बड़ी भयानक हो जाती है। शरीर के बड़े बड़े वैद्यों ने शारीरिक मृत्यु पर विजय पाने के लिये बड़ी २ खोजें की हैं। उन्हें मृत्यु पर सफलता तो नहीं मिली किन्तु कुछ रोगों पर

मौत मांगने से नहीं मिलती किन्तु जीते जी मरना मिल जाता है

आत्म-सन्मान की भावना ही दीन भावना की औषधि है

भय की सहोदर भावनाओं का इलाज करने के लिये हमें आत्म-गौरव की प्रसुप्त भावना को जागृत करना होगा। भय के कारण जो दैन्य भाव उठते हैं उन्हें आत्म-सन्मान की भावनाओं से परास्त करना चाहिये। अर्जुन के दैन्य को दूर करने के लिये भगवान् कृष्ण ने उसके मन में इसी आत्म-सन्मान के भाव को जगाया था। उन्होंने कहा था कि यदि तू इस समय युद्ध से मुख मोड़ेगा तो लोग तुझे डरपोक कहेंगे। तेरी कीर्त्ति पर कलंक लगेगा। यह अकीर्त्ति मृत्यु से भी अधिक कष्टप्रद होती है। इसलिये अपनी कीर्त्ति की रक्षा के लिये भी युद्ध करना तेरा कर्त्तव्य है[1]। महाभारत में व्यास मुनि ने कहा है कि आत्म-कीर्त्ति का भाव पुरुष को माता की तरह जीवन प्रदान करता है। अकीर्त्ति मनुष्य को जीते जी मार देती है[2]। मृच्छकटिक में चारुदत्त ने यह बात और भी जोरदार शब्दों में कही है। वह कहता है:—मैं मृत्यु से नहीं डरता, केवल अपयश से डरता हूं। यशस्विनी मृत्यु मुझे पुत्र-जन्म के आनन्द के समान प्रिय होगी[3]।

मृत्यु से बचने का यत्न बेकार है मृत्युंजयं बनो

मेरा विश्वास है कि हम प्रत्येक आवेश को उसके विरोधी आवेश से ही जीत सकते हैं। भय को निर्भयता से, दीनता को अदीनता से, क्रोध अक्रोध से ही जीता जा सकता है। वेदों में 'अदीनाः स्याम शरदः शतम्' हम सौ वर्ष अदीन होकर जियें प्रार्थना है। दीनता के साथ जीना जीना नहीं है। ऐसे जीने से मरना अच्छा है। जीने का अर्थ ही अदीन

---

१. अकीर्त्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्,
संभावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादति रिच्यते।—गीता

२. कीर्त्तिं हि पुरुषं लोके संजीवयति मातृवत्,
अकीर्त्तिं जीवितं हन्ति जीवितोऽपि शरीरिणः।—महाभारत

३. न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः
विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्र जन्म समः किल—चारुदत्त-मृच्छकटिक

होकर जीना है। अदीन आत्मा से ही हम यह आशा कर सकते हैं कि वह हमारी शक्तियों की बागडोर संभालेगी जिससे हमारे चरित्र का निर्माण होगा। कायर आत्मा के हाथ में जिस जीवन की शासनडोर होगी वह जीवन कभी सफलता के मार्ग पर नहीं चलेगा। जिस रथ का सारथी ही कायर होगा वह विजय के मार्ग पर अग्रसर कैसे हो सकता है? ईश्वर से जब हम यह मांगते हैं कि हमारे रथ को सबसे आगे बढ़ा दो[१]। हमारी भावनायें समुद्र की धाराओं के समान सारी भूमि को व्याप्त करलें[२]। और हम जीवन के दुर्गम पथ को आसानी से पार करलें[३]। तब हम अच्छी तरह जानते हैं कि दैन्य-ग्रस्त आत्मा से ऐसी आशा नहीं की जा सकती। मृत्यु को जीतने वाली आत्मा दीन कैसे हो सकती है। हम मृत्यु से बचने की प्रार्थना नहीं करते बल्कि मृत्यु को जीतते हैं; मृत्युंजयं बनने की धारणा बनाते हैं; मृत्यु के पैर को धकेलते हुए जीवन-पथ पर चलने का संकल्प करते हैं[४]।

प्रवृत्तियों का आदर्श सन्तुलन करना हमारे हाथ में है

सच तो यह है कि जब हमारी आत्मसन्मान की स्वाभाविक वृत्ति मध्यम पड़ जाती है तभी भय की प्रवृत्तियां प्रबल होकर हमारे दैन्य को उकसा देती हैं। प्रवृत्तियों का यह द्वन्द्व हमारे मन में प्रतिक्षण चलता रहता है। हमारी आत्मा के सामने इन प्रवृत्तियों की कचहरी हर समय लगी रहती है। वादी-प्रतिवादी हाजिर होते रहते हैं और हमारा न्यायाधीश प्रतिक्षण फैसला देता रहता है। मामूली अदालतों में न्यायाधीश को

---

१. प्रथमं नो रथं कृधि—ऋग्वेद

२. एषस्य धारया सुतोऽव्या वारेभिः पवते मदिन्तमः क्रीडन्नूर्मिरपामिव—सामवेद

३. तरन्तः स्याम दुर्गहा—ऋक्

४. मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत—अथर्व

व्यवस्थापकों द्वारा निर्मित विधान के अनुसार फैसला करना पड़ता है किन्तु हमारा न्यायाधीश व्यवस्थापक भी है। व्यवस्था बनाना भी उसी का काम है। मनुष्य का अन्तःकरण स्वयं अपना लक्ष्य निर्धारित करके व्यवस्था बनाता है और उस व्यवस्था को सुचारू रूप से कार्यान्वित करने के लिये प्रवृत्तियों के द्वन्द्व में से अनुकूल प्रवृत्तियों को काम में लाता रहता है। यदि सब काम व्यवस्थानुसार चले तो जीवन का सन्तुलन आदर्श रहता है किन्तु कठिनाई यही है कि मनुष्य का अन्तःकरण भी अनेक दुर्बलताओं से प्रभावित हो जाता है।

एक दुर्बलता—दीन भावना—की चर्चा मैंने की है। ऐसी अनेक भावनायें और भी हैं जो हमारी आत्मा को आदर्श नेतृत्व के गुणों से वंचित करती हैं।

मनुष्य अपने कर्मों द्वारा ही आत्म-प्रकाशन करता है

अत्यधिक अहं भाव भी आत्मा को निर्बल बनाता है। यह भी दीन भावना की ही एक प्रतिक्रिया है। अहंकार की आड़ में हम अपनी दीनता को छिपाने का प्रयत्न करते हैं। ठीक उसी तरह जिस तरह मूर्ख आदमी वाचाल होकर भाषा के पर्दों में अपनी मूर्खता को ढांपने की कोशिश करता है।

अहंकार, आत्माभिमान, आत्म प्रकाशन या अहं भावना मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियां हैं। इनके बिना मनुष्य का जीवन पूर्ण नहीं हो सकता, वह कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकता। आत्माभिमान मनुष्य की सब से बड़ी प्रेरणा है। आत्म प्रकाशन की प्रवृत्ति या स्वयं को रचनात्मक रूपों में प्रकाशित करने की इच्छा ही मनुष्य को कर्मों में प्रवृत्त करती है। मनुष्य स्वभाव से रचनाप्रिय है। प्रकृति से तो वह कलाकार है। और अपनी रचना को देखकर आनन्दित होना व अभिमान अनुभव करना भी उसका स्वभाव है। "यह मेरी कृति है" कहकर मनुष्य अभिमान अनुभव करता है। ऐसा अभिमान मनुष्य जीवन को

सुखी बनाने में सहायक होता है। अपने कार्यों में ही मनुष्य अपने को प्रगट करता है और अपने कर्मों द्वारा ही वह अपने स्वरूप को जानता है। आत्म प्रकाशन का यह आदर्श रूप है।

विश्वकर्मा हमारे हृदय में बैठकर हमें कर्मों में प्रवृत्त करता है

ईश्वर के कर्त्तृत्व का अंश मनुष्य में भी है। मनुष्य के हृदय में भी वही विश्वकर्मा बैठा है[1]। वही एक रूप से अनेक रूपों की सृष्टि कर रहा है। जो मनुष्य अपने हृदय में उसको बैठा जानकर अपने कर्मों में उसी की प्रेरणा को अनुभव करते हैं और यह जानते हैं कि सच्चा करतार वही ईश्वर है उन्हीं को शाश्वत सुख प्राप्त होता है। और जो मूर्ख यह समझने लगते हैं कि प्रकृति के गुणों से स्वयं सिद्ध होने वाले सब कार्यों का कर्त्ता मैं ही हूँ वे मिथ्याचारी होते हैं। उनका अभिमान मिथ्या होता है, उनका आनन्द मिथ्या होता है[2], उनकी प्रेरणा मिथ्या होती। उनका ज्ञान, उनका बल और उनकी सब क्रियायें मिथ्या होती हैं।

चेष्टाहीन—भावनायें विकृत हो जाती हैं। निश्चेष्ट अहंभाव ही दुराग्रह का कारण है

आत्मप्रकाशन और रचनात्मक भावनाओं को प्रगट होने का जब ठीक माध्यम नहीं मिलता तो वे पथभ्रष्ट हो जाती हैं, दब जाती हैं, विकृत और विक्षिप्त हो जाती हैं। यही विकार स्वभाव में मिथ्याभिमान, चिड़चिड़ापन, दुराग्रह पैदा कर देते हैं। मनुष्य में निश्चेष्टता आ जाती है। निश्चेष्ट अभिमान और निश्चेष्ट दुराग्रह मनुष्य की प्रगति में उसी तरह बाधक हो जाते हैं जिस तरह निश्चेष्ट

---

१. एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।

२. एकं रूपं बहुधा यत्करोति तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।

शोक। वे निश्चेष्ट भावनायें मनुष्य की सब से बड़ी शत्रु हैं[1]। निश्चेष्ट अभिमान का यह अर्थ है कि मनुष्य केवल अभिमान करता है, चेष्टा नहीं करता। जिन भावनाओं के साथ प्रयत्न नहीं रहते वे भावनायें मनुष्य की शत्रु हैं। प्रत्येक भावना की तृप्ति के लिये प्रयत्न का होना आवश्यक है। चेष्टाहीन भावनायें विकृत हो जाती हैं। अत्यधिक नियन्त्रण से या निरन्तर असफलता से सामना करते करते मनुष्य की रचना वृत्ति जब कुण्ठित हो जाती है तो वह मिथ्याभिमान के पर्दे में छुपकर बैठ जाती है।

उपयोगी काम न करके भी काम में प्रवृत्त रहना जीवन का झूठा नाटक खेलना है

एक आदमी रोज चौराहे पर आने जाने वाली मोटरों को हाथ देता था। वह सिपाही नहीं था। कहीं से सिपाही की फटी वर्दी उसे मिल गई थी। उसे पहन कर वह चौराहे के बीच खड़ा हो जाता और सिपाही बनने का नाटक करता था। उसकी बड़ी इच्छा थी कि वह सिपाही बनता। वह इच्छा किसी कारण से पूरी न हो सकी। इसी से वह पागल हो गया। पागल होने के बाद भी वह इस इच्छा से छुटकारा नहीं पा सका। अब वह अपना सिपाही का नाटक करके तृप्त हो लेता है।

वह अकेला ही ऐसा पागल नहीं है। अपने आसपास हम नज़र दौड़ायें तो हमें सैंकड़ों समझदार सफेदपोश पागल इसी तरह नाटक करते दिखलाई देंगे। उनके काम का उद्देश्य केवल अपने झूठे अभिमान को सन्तुष्ट करना होता है, कोई उपयोगी काम करना नहीं।

---

१. हीन चेष्टस्य यः शोकः सहि शत्रुर्धनंजयः।

आज लोग अपनी सुख-सुविधा के लिये धनोपार्जन नहीं करते बल्कि समाज में अपने को धनी-मानी बतलाने के लिये करते हैं। समाचार पत्रों और पत्रिकाओं का संचालन संपादन जनमात्र की हित-भावना से नहीं किया जाता अपितु सार्वजनिक अभिमान की प्रतिष्ठा के लिये किया जाता है। आज हमारे सभी सामाजिक काम इस मिथ्या अभिमान की प्रेरणा से हो रहे हैं। चाहिये तो यह था कि हम कुछ उपयोगी काम करके अभिमान करते किन्तु उपयोगी काम न करके केवल अधिक-से-अधिक धन-संग्रह करके ही हम अपने अभिमान को तृप्त कर लेते हैं। रचनात्मक प्रवृत्ति का स्थान संग्रह-प्रवृत्ति ने ले लिया है। संग्रह बुरा काम नहीं है। किन्तु संग्रह तभी अच्छा है यदि वह नये उत्पादन में सहायक हो। जहां वह मनुष्य का मूल्यांकन करने का साधन बन जाय वहां संग्रह विनाशकारी बन जाता है। आजकल संसार संग्रह को ही जीवन की सफलता मान बैठा है। प्रचुरता ही मनुष्य के अभिमान की वस्तु रह गई है। यह अभिमान आत्मा को रोगी बना देता है।

संग्रह अपने मिथ्याभिमान की तृप्ति के लिये होता है।

•

दूसरों की प्रशंसा से जिसकी अभिमान भावना तृप्त होगी वह कभी सफल नहीं हो सकता। अभिमानी आदमी प्रायः दूसरों की स्तुति से तृप्त और आलोचना से विक्षिप्त होते हैं। प्रशंसा की यह भूख आजकल बड़ी विस्तृत हो गई है। अपनी स्तुति सुनकर फूलने वाला आदमी उपयोगी कार्यों की अपेक्षा वही काम करेगा जो उन्हें दूसरों की प्रशंसा का पात्र बना सके। प्रशंसा की यही भूख ही है जो हमारी गृह-देवियों को रंगमंच पर लाती है। ऐसी देवियों के लिये घर के काम-काज नीरस हो जाते हैं। घर के कार्यों में उनकी दिलचस्पी नहीं रहती। वहां केवल पति की प्रशंसा

प्रशंसा की भूख हमें कर्त्तव्य-च्युत करती है

ही मिलती है। बाहिर के काम में दुनिया की वाहवाही मिलती है। इसलिये कई घर की मातायें भी चेहरे को रंगकर और गालों पर लीपापोती करके रङ्गमंच पर आ जाती हैं। ऐसी माता कभी बच्चों का पालन-पोषण नहीं कर सकती। उसका गहन 'आत्मप्रेम' उसे अपने पुत्र और पुत्रियों के साथ स्वाभाविक व्यवहार नहीं करने देता।

अहंभावी मां बाप बच्चों से घृणा करने लगते हैं

मैंने अभिमान को 'आत्मप्रेम' कहा है। आत्मप्रेम, अहंभाव, आत्मरति, स्वार्थ, ये सब शब्द परस्पर पर्याय वाचक हैं। यह आत्मप्रेम मनुष्य को अन्त-मुखी बना देता है उसका ध्यान अपनी ही तृप्ति पर केन्द्रित हो जाता है। वह केवल अपने लिये जीता है और अपने लिये ही सब काम करता है। प्रेम, दया, सहानुभूति शब्द उसके अमरकोष में नहीं रहते। ऐसा अहंभावी व्यक्ति दूसरों से तो क्या अपनी सन्तान से भी प्रेम नहीं कर सकता, सन्तान की हित चिन्ता नहीं कर सकता, उसके लिये त्याग व तप करने की तो बात ही अलग है। कई बार ऐसे 'अहंभावी' माता-पिता अपने बच्चों से प्रेम करने के स्थान पर उनसे घृणा करने लगते हैं। बच्चों की त्रुटियां उन्हें समाज में लज्जित करने लगती हैं। एक बच्ची देखने में उतनी सुन्दर नहीं थी जितनी उसकी मां। मां को लड़की के साथ चलने में शर्म मालूम होती थी। ऐसी लड़की के मन में माता के लिये जो भावना जागृत होगी उसकी कल्पना पाठक स्वयं कर सकते हैं।

बच्चे के दिल में माता के प्रति विद्रोह

एक लड़का बहुत गन्दा रहता था। उसकी अस्वच्छ प्रकृति का मूल-निदान जानने पर मालूम पड़ा कि उसकी माता ने 'लोग क्या कहेंगे' इस बात को बहुत महत्त्व दे रखा था। अपने घर की कुर्सियों पर वह बच्चे को नहीं बैठने देती थी—इस डर से कि कहीं कुर्सियों का लिहाफ मैला न हो जाय। वह बच्चा जब मैला कुचैला होता तो उसे अपने पास नहीं बुलाती थी।

बल्कि एक दिन उसने एक पड़ोसिन के सामने माता को यह भी कहते सुन लिया था कि 'यह बच्चा तो किसी चूढ़ी के घर पैदा होता तो अच्छा था, जाने मेरे कोख से ही क्यों पैदा हुआ।' तभी से उस बच्चे में प्रतिहिंसा के भाव जागृत हो गये। उसने माता की आवश्यकता से अधिक स्वच्छता की भावना के प्रति विद्रोह कर दिया। वह जानबूझ कर गन्दा रहने लगा। मां जब उसकी गन्दगी से चिढ़ती तो उसे ब.। आनन्द आता था। मां के मिथ्या आत्माभिमान ने बच्चे का जीवन बिगाड़ दिया। मां का जीवन तो नष्ट हुआ ही था, बच्चे का भी हो गया।

अहंभाव ही ईर्ष्या के बीज बोता है

यही मिथ्या 'अहंभाव' है जो हमारे मन में ईर्ष्या के विष-बीज बोता है। हमारा मन सदा अपने को दूसरों की नजरों में तोलता रहता है। किसी सुन्दर चेहरे को देखते ही हमारा ध्यान अपने चेहरे की खराबियों पर गड़ जाता है और हम अपने पर लज्जित होना शुरू कर देते हैं। किसी की सुन्दर पोषाक देखकर तुरन्त हमें अपनी बेढब पोषाक पर ग्लानि होने लगती है। हम सब की उन्नति में अपनी हेठी और सब की हंसी में अपना रोना अनुभव करने लगते हैं। हम अनायास दूसरों के सुख से ईर्ष्या करने लगते हैं। संभव है, उनके दिखाई देने वाले सुखों से उनकी दुखभरी कथाएं बहुत लम्बी हों, किन्तु हमें यह जांचने-परखने का अवकाश ही कहां? हमारा 'अहंभाव' बड़ा अधीर है। वह बड़ा नाज़ुक और चंचल है। उसकी निरन्तर पूजा करके हमने उसे असहिष्णु बना दिया है।

अपने को भूल कर ही हम दुनिया के सेवक हो सकते हैं

'अहं' की पूजा करते-करते हम अपने उन कर्त्तव्यों को बिल्कुल भूल जाते हैं जो हमारे अपने पड़ोसियों, अपने समाज और देश के प्रति होते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि हमारा जीवन अनेक शक्तियों का ऋणी है, और हम दूसरों के साथ समन्वय किये बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते। हम यह स्मरण नहीं रखते कि जो अग्नि में है, जल में है, सम्पूर्ण विश्व में है वही हमारे अन्दर है। हम भी उसी

विराट् प्राण के अंश हैं। हम उसी के अमृत पुत्र हैं। दिव्य लोकों में जो रहता है वही हमारे शरीर में रहता है[1]। बल्कि जो सर्वव्यापक है वही हम हैं। इस विराट् विश्व की आत्मा से हमारी आत्मा भिन्न नहीं है। सूफी ने ठीक कहा थाः—

ग़ायब जो हो खुदा से आलम है उसको हूका,
अनानियत है जिसमें—मौक़ा नहीं है तू का।

जो मनुष्य सब प्राणियों से आत्मभावना रखता है वही संसार के साथ चल सकता है। अपनी संकीर्ण भावनाओं में रमने वाला आदमी सफल नहीं होगा। इसलिये हमें आत्म-प्रिय न होकर आत्म-विस्मृत और परप्रिय होना उचित है। अपने को भूल कर ही हम परप्रिय हो सकते हैं। तभी हम दूसरों की बातों में दिलचस्पी लेंगे, दूसरों की बात सुनेंगे। अपनी चिन्ताओं से ही जिसे अवकाश नहीं वह संसार का सौन्दर्य क्या देखेगा? उषाकाल की अरुणाई, रवि की सुनहरी आभा, चिड़ियों की चहक, कोयल की कूक, चन्द्रमा की शीतल किरणें, बादलों की संवारी, सावन की लहराती हवा उसके लिये कोई सन्देश नहीं लायेगी। वर्षा धुले आकाश में जब चाँद तारों से खेलता होगा तो वह अपने दामन में मुँह छिपाकर अपनी चिन्ता में व्यस्त होगा।

---

१. यो देवोग्नौ, योऽप्सु, योविश्वम्भुवनमाविवेश।
यो ऽषधीषु यो वनस्पतिषु ··· तस्मै देवाय नमोनमः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः आये दिव्या धामानि तस्थुः।

२. सर्वभूतेषु यः पश्येत् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्यसौ भगवतोत्तमः।

ऐसे स्वार्थपरायण जीवन का कोई उद्देश्य नहीं हो सकता। लक्ष्य अपने से बाहिर दूर की ही वस्तु का हो सकता है। स्वार्थी पुरुष अपने से बाहिर कुछ नहीं देखता। उसे सुख के अतिरिक्त कुछ दीखता ही नहीं। अपने को वह दुनिया से इतना अलग ही नहीं कर लेता—सबको अपना शत्रु भी समझने लगता है। अपने स्वार्थ की गहराई में वह दुनिया भर के संशय और भय भर लेता है। वह अपना मन किसी के सामने नहीं खोलता। उसके धूएँ से उसकी आत्मा भरी रहती है। वह किसी के हृदय में प्रेम के बीज नहीं बोता और ना ही कृतज्ञता भरे मन से किसी के प्रेम का उत्तर देता है। प्रेम का उत्तर वह सदा द्वेष से देता है। और इस कारण जब दूसरे लोग उससे मेल-जोल रखना बन्द कर देते हैं तो वह चिल्ला २ कर कहता है "मैं दुनिया में अकेला हूं"। जिनका मन केवल अपनी परिधि में ही चक्कर काटा करता है वे हर समय अपनी नब्ज पर हाथ रख कर अपने स्वास्थ्य की चिन्ता किया करते हैं। वे अपने ही दिल की धड़कन सुना करते और पेट की मांसपेशियों पर ध्यानावस्थित रहते हैं। यह भी एक तरह का मानसिक रोग है।

अहंभावी व्यक्ति की यही पुकार रहती है "मैं दुनिया में अकेला हूं"

सामाजिक चेतनता के जागृत होने की पहली शर्त्त यह है कि आप यह बात अच्छी तरह समझलें कि आपके जीवन का प्रयोजन केवल अपने मनोरथों की सिद्धि करना नहीं है। आप अनिवार्य रूप से सामाजिक प्राणी हैं। दूसरों के सुख-दुख में भाग लेते हुए ही आपको जीना है। एक बार यह चेतनता जागृत होने के बाद आपका दृष्टिकोण सर्वथा बदल जायगा। आपकी दिलचस्पी सार्वजनिक हित के कामों में होगी। आप केवल मनोरंजक उपन्यासों में समय नष्ट न करके सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के विषय

दूसरों के सुख दुख का समभागी बनिये

की पुस्तकें पढ़ना शुरू कर देंगे। आपको यह चिन्ता होने लगेगी कि अशिक्षितों को शिक्षित किस तरह बनाया जाय, रोगियों की चिकित्सा का प्रबन्ध कैसे किया जाय और लोगों का दुख-दारिद्र्य दूर करने का सबसे अच्छा उपाय कौन-सा है।

इस चिन्ता के जागृत होते ही आपकी इच्छा होगी कि आप इन समस्याओं का स्वयं अध्ययन करें। अध्ययन बिना निरीक्षण के नहीं होता। निरीक्षण के लिये आपको गरीबों, अनपढ़ लोगों और बीमारों में जाना पड़ेगा। उनसे मिलकर आप उन्हें सान्त्वना देंगे। उनके दुख की बात सुनकर आंसू बहायेंगे। उन आंसुओं से आपकी आत्मा की मलिनता धुल जायगी। आपकी आंखों की दृष्टि विमल हो जायगी।

समवेदना के आंसुओं से मन का पाप धुल जाता है व आत्मा निर्मल होती है

अपने से गरीब लोगों में जाकर आपको अनुभव होगा कि ईश्वर के वरद पुत्रों को अधिक उदार होने की आवश्यकता है। लाखों का दुर्भाग्य थोड़े से लोगों की उदारता से सौभाग्य में बदल सकता है। आप देखेंगे कि किस तरह कुछ लोग चुपचाप जीवन की असह्य यन्त्रणाओं को बर्दाश्त कर रहे हैं; बलिदान केवल ऊँचे ध्येय के लिये बड़ी-बड़ी विज्ञप्तियों के साथ नहीं किया जाता; छोटी-छोटी बातों में भी मौन रहकर कितना समर्पण किया जा सकता है। उस समय आपको यह सोचकर पश्चात्ताप होगा कि जब आप बड़ी आसानी से किसी के मन का भार हल्का कर सकते थे, तन पर वस्त्र देने की सुविधा कर सकते थे, किसी को अन्न के एक-एक दाने के लिये तरसते हुए प्राण छोड़ने से बचा सकते थे उस समय आप केवल अपने आंचल में मुँह छिपाकर क्यों बैठे रहे। वह समय आपने अपने निरर्थक मनोरञ्जन में बिता दिया या अपने लाखों के कोष में थोड़ी-सी और वृद्धि करने का सन्तोष पाने में खर्च कर दिया।

चरित्र ऐसा वृक्ष है जिसकी जड़ें अवश्य मनुष्य के अपने व्यक्तित्व में गड़ी होती हैं किन्तु जिसका विकास समाज के खुले आकाश में होता है, जिसकी शाखायें दुनिया की खुली हवा में फैलती हैं और जिसके फल दुनिया के दूसरे लोग खाते हैं। चरित्र वह जल-धारा है जो व्यक्तित्व के गर्भ से निकल कर पृथ्वी पर फैली हुई क्यारियों को सींचती हुई विश्व के विशाल सागर में लुप्त हो जाती है । चरित्र की स्थिति मनुष्य के व्यक्तित्व में ही है किन्तु उसका लक्ष्य सामाजिक कल्याण ही है।

सच्चरित्र होने का प्रयोजन चरित्र-निर्माण नहीं बल्कि सामाजिक कल्याण है

मेरा विश्वास है कि पर्वत की एकान्त गुफा में बैठकर कोई व्यक्ति चरित्र-निर्माण नहीं कर सकता। दुनिया से दूर अध्यात्मिक आश्रमों के दुर्ग में भी चरित्र की शिक्षा नहीं दी जा सकती। सामाजिक-चेतना शून्य आत्मा हमारी प्रवृत्तियों का नेतृत्व कभी नहीं कर सकती। यह अहंभाव चरित्र का शत्रु है। यह स्वार्थपरता मनुष्य के मन और शरीर दोनों को अस्वस्थ बना देती है।

दूसरों को सहायता देने वाले को एक दिव्य सन्तोष और सुख मिलता है। उसके शरीर में स्फूर्ति आ जाती है; वाणी में निश्चयात्मक भावना और स्पष्टता समा जाती है। उसकी चेष्टायें एक स्थिर आदर्श का संकेत करती हैं, उसकी हंसी में भी गंभीरता की अस्पष्ट सी झलक दिखलाई देती है।

पर-सेवा मनुष्य के किसी भी स्थिर आदर्श की प्रतीक है

उसके चेहरे पर संसार के सुख-दुख, छाया प्रकाशमय जीवन का सच्चा चित्र खिंच जाता है, जीवन का संपूर्ण सौन्दर्य उसके दिल में आंकने की तरह चित्रित हो जाता है।

निःस्वार्थ निरभिमान व्यक्ति सबका प्रिय हो जाता है।[1] उसे सब लोग अपने सुख का भागी बनाना चाहते हैं। उसकी सम्मति पूछते हैं और सम्मति का सन्मान करते हैं। जब वह घर से बाहिर जाता है तो सब लोग उसे बुलाते हैं। उसका स्वागत करते हैं।

स्वार्थी से सब डरते हैं। वह कभी रास्ते में पड़ जाय तो बचकर निकल जाते हैं। उसके बुलाने पर भी लोग नहीं जाते। उसकी सम्मति कोई नहीं पूछता। वह एक बहिष्कृत व्यक्ति के समान अकेला जीता है।

आप इनमें से कौनसा बनना चाहते हैं?

सौभाग्य से ऐसे मनुष्यों की कमी नहीं जो जीवन के मार्ग में सहायता का हाथ बढ़ाते हुए आगे बढ़ना चाहते हैं और जो उपयोगी कार्य करके अपने जीवन को सुखी-समृद्ध बनाना चाहते हैं, किन्तु बहुत लोग यह समझते हैं कि परहित चिन्तन केवल बड़े कार्यों में होता है। इनको यह भ्रम होता है कि सामाजिक-चेतना का अभिप्राय केवल सार्वजनिक संस्थाओं में कार्य करने या सार्वजनिक सभाओं में व्याख्यान देने से है। सामाजिक चेतना से प्रेरित कामों में बड़े-छोटे का भेद नहीं होता। अल्प-अधिक की तुलना भी नहीं होती।

छोटे प्रारम्भ ही महान् फल को जन्म देते हैं।

कर्म का नाश नहीं होता

एक बार मेरे एक मित्र ने महात्मा गांधी के पास पत्र लिखते हुए यह संशय प्रकट किया था कि आप सबको सूत कातने का उपदेश देते हैं। मैं मजदूर आदमी हूं। दिन-रात पसीना बहाकर पेट पालता हूं। मेरे पास इतना थोड़ा समय बचता है कि कठिनाई से २-४ गज सूत ही कात सकूंगा। मेरा २-४ गज का सूत किस तरह भारत के स्वाधीनता-विजय में उपयोगी हो सकता है, यह मुझे समझ नहीं आता। इतने थोड़े काम की व्यर्थता जानकर मैंने सूत कातने का इरादा छोड़ दिया है। क्या मैंने बुरा किया?

---

१. मानं हित्वा प्रियो भवति—महाभारत

महात्मा जी ने इस पत्र के उत्तर में गीता का एक श्लोक लिखकर भेजा था जिसका अर्थ यह था कि इस जीवन में किसी भी कर्म का नाश नहीं होता, किसी भी प्रयत्न की दुर्गति नहीं होती। कर्त्तव्य कार्य का थोड़ा अनुष्ठान भी मनुष्य को अधर्म या अकर्त्तव्य के महान भय से दूर कर देता है[1]।

छोटे कामों की प्रशंसा में एक अंग्रेज़ी कवि ने बहुत अच्छी पंक्तियां लिखी हैं:—

"O, small beginnings, you are great and strong,
Based on faithful heart and weariless brain,
You build the future fair, you conquer wrong,
You earn the crown and wear it not in vain.

अर्थात् छोटे प्रारम्भ में ही महानता छिपी होती है। छोटे काम का आधार यदि विश्वास-पूर्ण हृदय और अनथक बुद्धिपूर्वक परिश्रम है तो भविष्य अवश्य उज्ज्वल होगा। अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ की इस पंक्ति में भी कि 'Small service is True service while it lasts' बड़ा सत्य है।

हमें छोटे-छोटे कामों में ही स्वार्थ को छोड़कर परार्थ की भावना बनानी चाहिये। अच्छे काम का प्रारम्भ अपने निकट से ही किया जा सकता है। दूर जाने की जरूरत नहीं। ना ही पात्र-अपात्र को परखने की जरूरत है। सच्चा दानी वही है जो योग्य को नहीं बल्कि जरूरतमन्द को दे। जिसका मन उदारता, सेवा, दया आदि गुणों से भरपूर होगा वह बादल की तरह छोटे बड़े ताल, सूखी हरी पृथ्वी या ऊँची-

मनुष्य का बड़प्पन छोटे कामों से ही पाया जाता है।

---

१. नेहाभिक्रम नाशोऽस्ति प्रत्यावायो न विद्यते
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

नीची जमीन सब जगह अपनी उदारता की वर्षा करेगा। वह हर कदम पर हर मिनट बिना सोचे पर-हित कार्य करेगा। मनुष्य का बड़प्पन उसके छोटे कामों से ही जांचा जाता है। दैनिक कार्यों में ही मनुष्य बड़े काम कर सकता है। मैं यहां ऐसे थोड़े से काम लिखता हूं जो आप अनायास कर सकते हैं और जिनसे दूसरों की सहायता कर सकते हैं।

सुबह का अखबार पढ़कर किसी ऐसे आदमी को दे दीजिये जिसके पास अखबार खरीदने के पैसे न हों। अथवा किसी हस्पताल के रोगियों में बांटने के लिये किसी संस्था को दे दीजिये। किसी अनपढ़ व्यक्ति की चिट्ठी लिखने का काम दिन में एक बार अवश्य कीजिये। किसी वृद्ध को सड़क पर लड़खड़ाता चलता देखें तो उसे सहारा देकर उसका काम करवा दें। आप अच्छा गा सकते हैं, या बजा सकते हैं तो कभी उन गरीबों को गाना सुनाइये जो न फिल्म देख सकते हैं न रेडियो रख सकते हैं। पड़ोस में कोई अजनबी आदमी अकेला रहता हो तो उसे कभी-कभी चाय पर बुलाइये। सप्ताह में एक बार अस्पताल जाकर बीमारों का हाल पूछिये। कोई बीमार संदेश देना चाहता है जो उसके सम्बन्धियों तक वह संदेश पहुंचा दीजिये। आपके आस-पास सैकड़ों अनपढ़ रहते हैं उन्हें अच्छे नागरिक बनने का सबक दीजिये। यदि आप गाड़ी में प्रवेश कर रहे हैं तो किसी वृद्ध या असमर्थ आदमी को अपने से पहले जाने का अवसर दीजिये। स्त्रियां शरीर से कमजोर होती हैं। उन्हें रिआयत देना आपका कर्तव्य है। अपने नौकर के साथ भी सभ्यता का व्यवहार करना चाहिये। वह भी उसी समाज का अंग है जिसके आप हैं।

यदि आप में सामाजिक चेतनता जागृत नहीं हुई है तो आप सभ्य और शिष्ट नहीं हो सकते। तब आप उस अनपढ़ गंवार से भी गये बीते हैं जो विनम्र है। जो शिक्षा विनय नहीं सिखाती वह शिक्षा नहीं

है। विद्या मनुष्य को विनय सिखाती है[1]। सभ्य और असभ्य में यही अन्तर है कि सभ्य व्यक्ति में दूसरों का हित देखने की बुद्धि होती है असभ्य या जंगली आदमी अथवा पशु में केवल अपना स्वार्थ देखने की। इसी सामाजिक गुण का दूसरा नाम मनुष्यता है। जिस मनुष्य में यही नहीं वह मनुष्य नहीं पशु है।

शिष्टाचार का आधार दूसरे को सुख देना है

शिष्टाचार का प्रदर्शन केवल हाथ मिलाने या हाथ जोड़ने में नहीं होता। अथवा डिनर टेबल पर बैठने-खाने के ढंग में, या पोशाक के चुनाव में ही नहीं होता। ये बाह्य चिह्न तो अन्दर की सद्-भावना के सांकेतिक चिन्ह हैं। शिष्टाचार का आधार दूसरे को सुख-सुविधा देना ही है। अपनी सहूलियत का ख्याल छोड़कर दूसरे की भावनाओं का सन्मान करना ही शिष्टता है। सभ्य वही है जो दूसरे की भावना का आदर करता है, उसे हीनता अनुभव नहीं होने देता, उसके उत्कर्ष के लिये और उसकी सुख-सुविधा के हेतु अपने स्वार्थों की बलि दे देता है।

स्वार्थान्ध व्यक्ति ये कुर्बानी नहीं करेगा। शिष्टता व उदारता का आडम्बर करना आसान है किन्तु सचमुच उदार होना कठिन है। जो लोग सामाजिकता का आडम्बर करते हैं वे दुनियाँ को ठगना चाहते हैं। वे पाखंडी, बेईमान और असभ्य हैं। कुछ लोग नम्रता का पाखंड करते हैं, दूसरे उदारता का आडम्बर करते हैं। झुककर दोनों हाथों से प्रणाम करने वाले बहुत से ऐसे हैं जो उन्हीं हाथों से दूसरे दिन अपने स्वार्थ के लिए खून करने से नहीं हिचकेंगे। इन्हें पाखण्डी कहा जाता है। इनके ओठों पर मुस्कान होगी—पर हाथ खून से रंगे होंगे। उदारता के पाखंडी एक हाथ से गरीबों का गला काटकर धन जोड़ेंगे और थोड़ा-थोड़ा दान देकर महादानी बन जायेंगे। ये लोग चोर-बाजार से लाखों रुपये कमायेंगे पर दो-चार सौ की भेंट सार्वजनिक

१, विद्या ददाति विनयम्—हितोपदेश

कार्यों में देकर नाम कमा लेंगे। यह दान झूठा दान है। यह उदारता थोथी उदारता है। यह धोखा है, फरेब है; चरित्र-निर्माण के मार्ग में भारी रुकावट है। चरित्र की सबसे पहली शर्त सचाई है, आडम्बर-पूर्ण व्यक्ति कभी सच्चा नहीं हो सकता।

प्रशंसा से अहंभाव पैदा होता है किन्तु सच्ची प्रशंसा ही आत्म-सम्मान और आत्मविश्वास को पैदा करके मनुष्य के जीवन में प्रशंसा पाने और देने का बड़ा महत्व है। बहुत बार प्रशंसा का अभाव ही मनुष्य में हीन-भावना की उत्पत्ति का कारण हो जाता है। जिसे प्रशंसात्मक शब्द सुनने नहीं मिलेंगे उसका उत्साह ठंडा पड़ जायगा। और कोई भी काम लगन के साथ करने की प्रेरणा खत्म हो जायगी। उसका आत्म-सम्मान टूट जायगा, और आत्मविश्वास की रस्सी कमजोर होती जायगी।

सच्ची प्रशंसा आत्म-विश्वास का कारण बनती है।

बच्चों को उनका व्यक्तित्व पनपने के लिये प्रशंसात्मक शब्दों की बहुत आवश्यकता है। अपने अभिभावकों द्वारा उसे अपनी रचनाओं पर प्रशंसा मिलती रहेगी तभी वह अपनी शक्तियों का विकास करेगा। मां-बाप की उदासीनता बच्चे को निष्क्रिय बना देती है। बच्चे को अच्छे कार्यों में प्रवृत्त करना या उत्साहित करना ही पर्याप्त नहीं है। उसे उसकी उन्नति पर प्रशंसा भी मिलनी चाहिये। धन की प्राप्ति प्रत्येक कार्य का उद्देश्य नहीं होता। धन की प्रेरणा अवश्य आवश्यक प्रेरणा है किन्तु आत्मतुष्टि उससे भी बड़ी प्रेरणा है। योग्य माता-पिता बच्चे को हरकदम प्रशंसा द्वारा उत्साहित करते रहते हैं। प्रशंसा बच्चे में आत्मविश्वास की भावना को जगा देती है। कई बार बच्चे अचानक दुर्घटना से इतने भयभीत हो जाते हैं कि कोई नया प्रयास नहीं करते। अपने प्रथम प्रयास में निराशा होने पर भी वे अपने प्रयास को निरन्तर चालू नहीं रखते। मेरे एक मित्र का बच्चा एक दिन

नौ महीने की आयु में जीने पर से गिर पड़ा था। उसके बाद उसने चलने के कई प्रयत्न किये किन्तु पांच वर्ष की अवस्था तक भी वह पैदल नहीं चल सका। उसकी असफलता पर मां-बाप बड़े निराश थे। उन्होंने मुझे कहा कि "हम इसे समझाते-बुझाते डराते-धमकाते और मारते-पीटते भी हैं लेकिन यह अपनी आदत से बाज नहीं आता" वे यह समझते थे कि बच्चे को बैठे रहने की आदत ऐसी पड़ गई है कि अब वह चलने का यत्न ही नहीं करता। दोष उसकी आदत का नहीं, मां-बाप के स्वभाव का था। मैंने उसके मां-बाप को समझाया कि "इस अवस्था में उसे पीटना, डराना या धमकाना निरी मूर्खता है। इस तरह तो वह कभी भी नहीं चलेगा। एक बार गिरकर वह अपना आत्मविश्वास गंवा बैठा है। अब वह दूसरों को देखकर भागने-दौड़ने की कोशिश करता है तो गिर पड़ता है। तुम उसकी कोशिश पर प्रशंसा करने के स्थान उसकी नाकामयाबी पर डराना-धमकाना शुरू कर देते हो। केवल प्रशंसा द्वारा ही तुम उसका खोया हुआ आत्मविश्वास वापिस लासकते हो। अन्यथा वह कभी चलने का उद्योग ही नहीं करेगा।" मेरे कहने पर मां-बाप ने बच्चे के प्रति अपना रुख बदल लिया। तब ६ महीने के अन्दर ही बच्चा पैदल चलने लग गया। प्रशंसा के दो शब्द मनुष्य के जीवन में किस तरह परिवर्त्तन कर देते हैं—इसका एक उदाहरण श्री ललिता शंकर अवस्थी के जीवन की उस घटना से मिलता है जो आपने एक आपबीती में लिखकर भेजी थी। उन्होंने लिखा :—

"जब मैं दस बरस का था तो मेरे जीवन में एक ऐसी घटना घटी जो आज भी मेरे मन पर वैसी ही अंकित है। पूरे साठ बरसों का व्यवधान भी उस छाप को मिटाने या धुंधला करने में समर्थ नहीं हो सका। बचपन में मैं बड़ा शैतान था। हर चीज को तोड़-फोड़ डालता था। और उसके लिये माताजी के हाथों पिटता भी था। परन्तु पिता जी ने मुझे कभी नहीं मारा था। एक दिन पिताजी को चश्मे

जरूरत पड़ी। उन्होंने मुझ से कहा लालू बेटा, जरा पढ़ने-लिखने के कमरे से चश्मा तो ले आ। मैं दौड़ा हुआ गया। चश्मा उठाकर अपनी नाक पर रख लिया और फुर्ती से कमरे की ओर लपका। रास्ते में चश्मा मेरी नाक पर से गिरा और उसके दोनों काच पत्थर के फर्श पर गिरकर चकनाचूर हो गये। मेरे तो देवता कूच कर गये। हाथ-पांव फूल गये। वहीं बैठ गया और मारे डर के फूट-फूट कर रोने लगा। पिताजी ने रोना सुना तो दौड़े आये। उन्हें सामने देखकर मैं और जोर से रोने लगा। पिताजी ने मेरा हाथ पकड़ लिया और प्रेम से बोले "बेटा! जो हो गया सो हो गया। उसमें तेरा क्या कसूर। वह तो होना ही था।" उसी समय माताजी भी आगईं, पिताजी से बोलीं 'यह बड़ा बेपरवाह, बेसमझ लड़का है। तुम इसे यों ही सिर चढ़ाते हो।' पिता जी ने शान्ति से उत्तर दिया "तुम नाहक इसे फटकारती हो। असावधानी किससे नहीं हो जाती। मेरा बेटा बहुत ही समझदार है। इतने अच्छे काम करके आता है—तो एक काम में भूल भी हो गई तो क्या हुआ। दस काम संवारेगा तो एक बिगाड़ेगा भी" जिन्दगी में वह पहला मौका था जब मुझे असावधानी करने पर भी प्रशंसा के शब्द सुनने को मिले। उस घटना ने मेरे जीवन में जबर्दस्त परिवर्तन कर दिया। पिताजी की प्रशंसा पर पूरा उतरने का मुझे हर समय ध्यान र[illegible]स दिन के बाद से मैंने कोई चीज नहीं तोड़ी, काम में कभी असावधानी नहीं की।"

यदि हम दूसरे के गुणों की प्रशंसा करें तो निश्चय ही अपना वातावरण आनन्दमय बना सकते हैं। आलोचना के लिये तो हम इतने उतावले हो जाते हैं कि एक क्षण भी धैर्य धारण नहीं कर सकते। और प्रशंसा में इतने कंजूस हो जाते हैं कि ढूंढने पर शब्द नहीं मिलते। समय की भी कमी हो जाती है। हमारी पत्रिकायें, हमारी बातचीत सदा आलोचनात्मक ही रहती हैं। प्रशंसा के लिए हम चुप्पी साध जाते हैं। विश्ववंद्य महात्माओं की प्रशंसा करना [illegible]

महत्त्व नहीं रखता। निकट के लोगों की प्रशंसा ही अधिक उपयोगी है। अपने घरेलू जीवन में हमें इसकी सब से बड़ी आवश्यकता है। पत्नी पति के लिये कुछ भी करे पति इस बात की आवश्यकता कभी अनुभव ही नहीं करता कि प्रशंसा का एक शब्द भी कहे। प्रशंसा का एक शब्द हमारे दाम्पत्य जीवन को सरस बना सकता है। नौकर के कार्य की प्रशंसा करके मालिक नौकर से दोगुणा काम ले सकता है। कलाकार तो जीते ही प्रशंसा पर हैं। चित्रकार, लेखक, कवि, नाट्यकार सभी प्रशंसा चाहते हैं। कवि को यदि मुशायरे में दाद न मिले तो उसकी ज़बान बन्द हो जाती है। व्याख्याता को श्रोताओं की करतल ध्वनि न मिले तो वह लड़खड़ा जाता है। एक व्याख्याता को सिर हिलाकर श्रोताओं से सहमति लेनेका अभ्यास था। यह सहमति मिल जाती थी। एक दिन किसी मसखरे ने सहमति सूचक इशारे के स्थान असहमति सूचक सिर हिला दिया। व्याख्याता उसके आगे एक शब्द भी न बोल सका। उसकी व्याख्यानधारा असहमति के चट्टान से टकराकर रुक गई।

जनता की प्रशंसा ही नेताओं से देश सेवा की काम ले सकती है। देशभक्त नौजवान फांसी को फूलों की सेज समझकर हंसते हंसते उस पर झूल जाते हैं; क्यों? क्योंकि उन्हें जनता की श्रद्धा मिलती है। अपराधी आदमी उसी शूली पर कदम रखने से पहिले ही मर जाता है। यह भेद केवल इसलिये है कि 'देश-सेवक' को जनता की सराहना मिलती है।

स्तुतिगान से ईश्वर भी प्रसन्न होता है। ईश्वर की प्रसन्नता ही मनुष्य के चरित्र का आधार है। ईश्वर को प्रसन्न करके ही मनुष्य [illegible] कर सकता है।

प्रेम आत्मा का प्रकाश है

प्रेम और चरित्र

अपनी स्वाभाविक वृत्तियों की ऐसी व्यवस्था करना जो उसे अभ्युदय के मार्ग पर ले जाय; यही चरित्र-निर्माण करना है। इस व्यवस्था के लिये मनुष्य में सच्चे नेतृत्व के जो गुण होने चाहियें वे सब मनुष्य में तभी आसकते हैं जब वह अपने को पहचाने। अपने स्वरूप को पहचानने में उसका अत्यधिक दीनभाव और अहंभाव बाधक हैं। अतिशय दीनता और अतिशय अहंकार दोनों परदों में आत्मा का सच्चा स्वरूप, आत्मा की ज्योति छिपी रहती है। उस ज्योति के प्रकाश से ही मनुष्य उत्कृष्ट मनुष्य बनता है, मनुष्य देवता बनता है। वही ज्योति प्रेम है। प्रेम आत्मा का प्रकाश है। प्रेम ही जीवन की सर्वोच्च प्रेरणा है। शेष सब प्रेरणायें अन्धी हैं, मनुष्य को विनाश के मार्ग पर ले जाने वाली हैं। प्रेमप्रेरित कर्म ही संसार की रचना करते हैं, जीवन को समृद्ध बनाते हैं, और हमें अपने परम ध्येय के निकट ले जाते हैं।

'प्रेम' इस दो अक्षर के शब्द का जितना व्यापक दुरुपयोग हमारे जीवन में होता है उतना किसी दूसरे शब्द का नहीं होता। ईश्वर के ऊँचे दिव्य प्रेम से लेकर अधम-से-अधम लैंगिक प्रेम तक की प्रत्येक प्रेरणा को प्रेम शब्द से व्यक्त किया जाता है किन्तु बहुत कम लोग ऐसे हैं जो 'प्रेम' शब्द का व्यवहार करते हुए उसका सच्चा अर्थ जानते हैं।

प्रेम का लक्ष्य केवल प्रेम की प्राप्ति है

मैं अहंभाव या स्वार्थभाव से विपरीत भाव को प्रेमभाव मानता हूँ। 'अहम्' या 'स्व' के लिये मनुष्य जो कुछ करता है वह स्वार्थ होता है। साधारणतया हमारी सब प्रेरणाओं का आधार स्वार्थ ही होता है। अपनी भूख मिटाने, अपनी रक्षा करने और अपने विस्तार के लिये हम सारे काम करते हैं। किसी भी

काम को करने से पहले हम यह देख लेते हैं कि इसका नतीजा हमारे हक में कैसा होगा। हमारी स्वार्थपूर्त्ति होती है तो हम उस काम को करते हैं अन्यथा नहीं करते। इस तरह फल की आकांक्षा से ही हमारे सब कामों का प्रारम्भ होता है। हमारा हर काम सौदे की भावना से होता है। सौदा लेन-देन को कहते हैं। मेहनत करने का अर्थ है अपने हिस्से में से दूसरे को देना। जब हम किसी को कुछ देते हैं तो बदले में कुछ लेने के लिये ही देते हैं। हमारी हर मेहनत उसका पुरस्कार पाने के लिये होती है। यह लेन-देन ही जीवन का साधारण नियम है। किन्तु प्रेम इससे भिन्न है। प्रेम में यह सौदा नहीं होता। प्रेम में केवल देना ही देना है। वह कुछ पाने की आकांक्षा से नहीं दिया जाता बल्कि देने के लिये ही दिया जाता है। इसीलिये प्रेम-प्रेरित कर्म बिना किसी स्वार्थमयी आकांक्षा के किये जाते हैं।

प्रेम पुरस्कार नहीं चाहता, बदला नहीं चाहता। प्रेम की यही परख है। प्रेम दान करता है तो प्रेम ही और प्रतिदान लेता है तो केवल प्रेम ही। प्रेम की पूर्त्ति प्रेम में ही है। प्रेम का लक्ष्य प्रेम ही है। स्वतः कृतार्थ होने के अतिरिक्त प्रेम का कोई उद्देश्य नहीं होता।

प्रेम-प्रेरित कर्मों में युक्त होना ही निष्काम कर्म का रहस्य है

प्रेम करने वाला ही सच्चा कर्मयोगी बन सकता है। केवल प्रेम की प्रेरणा से काम करने का अर्थ है फल की कामना छोड़ कर कार्य में प्रवृत्त होना। यही उस निष्काम कर्म का रहस्य है जिसका भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को गीता में उपदेश दिया था—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म फलहेतुर्भूर्मातेसंगोऽस्त्वकर्मणि॥ गीता

कर्म फल की इच्छा छोड़कर काम करना ही प्रेम से काम करना है।

साधारणतया यह समझ में नहीं आता कि फल की कामना किये बिना कर्म कैसे किया जा सकता है। जो मनुष्य प्रेम करता है वही इसका अर्थ समझ सकता है। प्रेम के बिना कोई काम पूर्णता से नहीं किया जा सकता। दुनिया के जितने बड़े काम हुए हैं सब प्रेम से हुए हैं, पुरस्कार की इच्छा से नहीं।

प्रेम की परिधि, सम्पूर्ण विश्व

प्रेम का क्षेत्र जितना विस्तृत होता जायगा मनुष्य का व्यक्तित्व भी उतना ही विस्तृत होता जायगा। जब हम जितना प्रेम अपने को करते हैं उतना ही प्रगाढ़ प्रेम दूसरे को करने लगें तभी हम दूसरे को सच्चा प्रेम करते हैं। प्रायः होता यह है कि हम प्रेम तो अपने को ही करते हैं किन्तु दूसरों में थोड़ी बहुत दिलचस्पी ही लेते हैं या जब अपने से अवकाश मिलता है और अपने स्वार्थ में कोई क्षति न पहुंचने का पूरा भरोसा होता है तब अपने से अन्य को प्रेम करने लगते हैं। प्रेम का यह प्रकाश अपने केन्द्र से दूर जाते हुए क्षीण होता जाता है, यहां तक कि कुछ दूर जाकर वह घृणा के अन्धकार में लीन हो जाता है। हमारा प्रेम का प्रकाश कितनी दूर जा सकता है यह हमारी आत्मा की ज्योति के तीव्र या मध्यम होने पर निर्भर करता है। हममें से कुछ हैं जो केवल अपनी सन्तान तक ही प्रेम का प्रकाश डाल सकते हैं। कुछ ऐसे हैं जिनकी परिधि मित्रों, पड़ोसियों अथवा अन्य जान-पहचान वालों तक फैल सकती है। कुछ महापुरुष अपने देशवासियों तक अपने प्रेम की ज्योति को पहुंचा सकते हैं। वे अपने देश को प्रेम करते हैं, देशवासियों को प्रेम करते हैं, किन्तु अन्य देशों से घृणा करते हैं। इससे भी ऊंचे वे हैं जो मानव मात्र और जीव-मात्र से प्रेम करते हैं। वे सारी दुनिया को उतना प्रेम करते हैं जितना सर्वसाधारण अपने को करता है। हमारे ग्रन्थों में इसीलिए में सब प्राणियों को आत्मवत् जानने का उपदेश दिया गया है[1]।

---

१. आत्मानं सर्व भूतेषु-सर्वं भूतानि चात्मनि
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र सम दर्शनः ॥—गीता

बाइबल में इसी प्रेम की चर्चा करते हुए कहा है कि हमें एक दूसरे से प्रेम करना चाहिये, क्योंकि प्रेम ही ईश्वर है। जो प्रेम करता है वही ईश्वर को जानता है, जो प्रेम नहीं करता वह ईश्वर को नहीं जानता[१]।

मनुष्य प्रेम भी ईश्वर प्रेम की ही छाया है

प्रेम की प्रेरणा से काम करना ही ईश्वर की प्रेरणा से काम करना है। प्रेम करना ईश्वर का काम करना है। अपने स्वार्थ की चिन्ता छोड़कर केवल प्रेम के हाथ में अपनी नाव छोड़ देना, प्रेम की लहरों में जीवन को बहने देना ईश्वर के हाथ में अपने को सौंप देने के बराबर है।

फारस के कवि खलील जिब्रान के शब्दों में "जब प्रेम तुम्हें बुलाने का संकेत करे तो तुम बिना संकोच उसके अनुचर हो जाओ। भले ही उसकी राह विकट, पथरीली और ढालू हो। जब उसके पंख तुम्हें ढापने के लिये फैलें तो सिमट कर उनमें समा जाओ, भले ही उनके कांटों से तुम्हारा शरीर छलनी-छलनी हो जाय।"

संसार से प्रेम करना ही ईश्वर से प्रेम करना है सच्चा प्रेमी वही है जो ईश्वर की सृष्टि से प्रेम करता है। यही ईश्वर-प्रेम है। जगत्में वही बसा हुआ है[२]। उससे प्रेम करके ही हम ईश्वर से प्रेम कर सकते हैं। किसी सूफी कवि ने इसे बड़े अच्छे शब्दों में कहा है:—कोई मनुष्य प्रेम की भावना से रिक्त नहीं है, वह प्रेम मनुष्य प्रेम हो या

---

[१] Belovlowed, let us love one another, for love is God, and every one that loveth is born of God. and knowth God. He that loveth not knowth not God. For God is love. (Bible)

[२]. ईशावास्यमिं सर्वम्।

ईश्वर प्रेम। मनुष्य प्रेम में भी ईश्वर प्रेम की ही छाया है। मनुष्य प्रेम की ज्योति ही ईश्वर प्रेम के रास्ते को प्रकाशित करती है[१]।

प्रेम-मार्ग के कांटे भी फूल बन जाते हैं

प्रेम का यह मार्ग ही जीवन का सच्चा मार्ग है किन्तु इस मार्ग में कांटे बिछे हैं। प्रेमी मनुष्य उन कांटों को फूल जानकर दिल से लगाता है। वे कांटे ही उसके लिये फूल हो जाते हैं। प्रेम के लिये मरना ही उसके जीवन का चरम आनन्द हो जाता है।

संसार में ईश्वर प्रेम के लिये, मनुष्य प्रेम के लिये और देश, जाति या मानव-मात्र से प्रेम के लिये मरने वाले महापुरुषों की कमी नहीं है। महापुरुष वही होते हैं जो इस प्रेम मार्ग के यात्री होते हैं। इस मार्ग के कांटों को हृदय से लगाने वाला ही चरित्रवान् होता है। प्रेम और बलिदान एक ही शब्द की दो परिभाषायें हैं। वह बलिदान ही उसे प्रिय हो जाता है। जो जितना बलिदान कर सकता है उतना ही प्रेम कर सकता है।

जीवित वही है जो अपने प्रेम के लिये मरता है।

यही मनुष्य के चरित्र की परख है। कल्याण-अकल्याण की बुद्धि प्रायः सब में बराबर होती है। सत्य-असत्य, भले-बुरे का तर्क कभी शान्त नहीं होता। अन्तिम सत्य शायद कोई वस्तु ही नहीं है। आज एक चीज सत्य है तो कल वही झूठ हो जाती है। मनुष्यों के विश्वास, उनकी अवस्थायें धारणायें बदलती रहती हैं किन्तु एक सचाई कभी बदलती

---

१. मा बादा हेच दिल बे-इश्क बाजी,
अगर बाशद हकीकी या मजाजी,
मजाज़ आईना-दार-ए-रुए-मा नस्ति
सर-ए-ब्रून बल्व हम दाकूए-मनस्ति,

नहीं। वह यह कि जिन्दा मनुष्य वही है जो अपने विश्वास के लिये मर सके। अपनी आस्थाओं के प्रति ईमानदार रहना, अपने विश्वास, अपने प्रिय विचारों व व्यक्तियों को इतना प्रेम करना कि उन पर अपने जीवन का प्रत्येक क्षण न्योछावर कर सकना ही चरित्रवान् होना है। यह शक्ति सबमें एक समान नहीं होती। विश्वास सभी करते हैं किन्तु उसके लिये कष्ट सब नहीं उठाते, प्रेम सभी करते हैं किन्तु प्रेम में दीवाने सब नहीं होते। जो प्रेम मनुष्य को दीवाना न करदे वह प्रेम नहीं—क्षणिक आकर्षण है। वह प्रेम कोहरे की तरह आता और स्वार्थ की चमक पड़ते ही नष्ट हो जाता है। ईश्वर भक्ति तो सभी करते हैं पर मीरा की तरह यह कौन गा सकता है:—

हे, री ! मैं तो राम दीवानी, मेरा दरद न जाने कोय,
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विध सोना होय।

सचमुच प्रेमियों की सेज सूली के कांटों पर होती है। कांटे ही उन्हें प्रिय हो जाते हैं। क्योंकि उनकी चुभन उन्हें प्रेमी की याद दिलाती है। सच्चे साधक को साधना मार्ग के कष्ट भी प्रिय होते हैं। इसलिये उन्हें निराशा, शिथिलता, कायरता कभी निर्बल नहीं बनाते। मीरा की तरह वे भी विष को अमृत करके पी जाते हैं।

प्रेम का मूल्य बलिदान में चुकाया जाता है

यही प्रेम था जो देश प्रेम के रूप में राणा प्रताप की आत्मा में जगमगाया था, जिन्होंने अरावली की सूखी घाटियों में भूखे-नंगे जीवन बिता दिया किन्तु अकबर की अधीनता स्वीकार करके मेवाड़ का सिर नीचा नहीं किया।

राजपूताना का इतिहास इन प्रेम-बलिदानों की कथाओं से भरपूर है। उदयपुर के चूड़ावत की नवविवाहिता वधू ने अपना सौभाग्य-सिन्दूर से सजा हुआ सिर केवल इसलिये काटकर रख दिया कि कहीं चूड़ावत देश के लिये लड़ने में शिथिलमन न हो जायँ।

सिक्खों के नवें गुरु श्री तेगबहादुरसिंह ने औरंगजेब के धर्म-परिवर्त्तन के प्रस्ताव को जब अस्वीकार कर दिया तो उन्हें मालूम था कि लोहे के तेज आरे से उनकी बोटी-बोटी काटी जायगी। फिर भी वे अपने विश्वास पर पर्वत के समान अटल रहे। उन्हें अपने धर्म से प्रेम था प्रेम का मूल्य बलिदान में चुकाना पड़ता है। यह मूल्य चुकाने के समय ही चरित्र की परीक्षा होती है।

यही चरित्र का उत्कृष्ट रूप है। यही आत्मबल है। यही आत्मबल निर्भीकता, दृढ़ता, साहस, त्याग, सत्यनिष्ठा आदि गुणों का आधार है।

महात्मा गांधी भी इसी आत्मबल के मूर्त्तिमान् अवतार थे। यह आत्मबल उन्होंने हठ-योग की साधना या तन्त्र-मन्त्र के अभ्यास से नहीं पाया था। उनकी प्रखर प्रतिभा या विद्वत्ता ने भी उन्हें यह बल नहीं दिया था। देश में उनसे अधिक विद्वान् थे। उनसे बड़े राजनीतिज्ञ थे। परन्तु उनसे अधिक मानव-प्रेम का दीवाना इस देश में ही नहीं, शायद संसार भर में नहीं था।

जैसे माता अपने बच्चों के लिये चिन्तित रहती है वैसे ही वे देश की दुखी जनता के लिये चिन्ता करते थे। सोते-जागते, उठते-बैठते हर पल उन्हें दरिद्रनारायण का ही ध्यान रहता था। उनका प्रत्येक कार्य प्रेम-प्रेरित होता था और प्रत्येक क्षण प्रेमार्पित होता था।

हम लोग प्रेम के लिये विशेष समय निश्चित करके प्रेम करते हैं। समय की सीमाओं में बँधा हुआ प्रेम सच्चा नहीं हो सकता। हम एक वस्तु को सुबह प्रेम करें और शाम को प्रेम न करें, यह असंभव है। प्रेम सदा एकरस रहता है। घर में, मन्दिर में, एकान्त में या समाज में, सब जगह उसका एक ही रूप रहता है। जो प्रेम-मन्दिर में प्रेम के आंसू बहा आता है और बाहिर भूख से तड़पते मनुष्य को पांव की ठोकर से ठेल देता है वह प्रेम नहीं धूर्त्तता है। रात के अंधेरे में

समय और स्थान के भेद प्रेम के रंग-रूपमें भेद नहीं करते

छिपकर दूसरों के गले पर छुरी चलाने वाला डाकू घर में अपनी स्त्री से जब प्रेम करता है तो वह प्रेम नहीं भोग करता है। स्कूल में लड़कों की चमड़ी उधेड़ने वाला शिक्षक घर में भी अपने बच्चे से प्रेम नहीं कर सकता। दूकान में गाहकों की जेब कतरने वाला व्यापारी अपने घर में भी स्त्री से प्रेम नहीं करेगा, केवल स्वार्थ साधन करेगा। राजनीति में कूटता, धूर्त्तता से बात करने वाला आदमी अपने मित्रों से भी धोखे की ही बात करेगा। प्रेम और सत्य की साधना के लिये हम विशेष समय निश्चित नहीं कर सकते। प्रेम का सच्चा रंग समय के अनुसार और स्थान भेद से बदलता नहीं रहता। यह वह रङ्ग है जो चढ़ गया तो हर समय चढ़ा रहता है। हाट-बाट, घर-बाहिर, मन्दिर-मस्जिद सब जगह वह एक समान बना रहता है। तभी वह चरित्र का अंग बन जाता है, नस-नस में समा जाता है, हमारी हर चेष्टा में, हमारे हर सांस में उसका आभास मिलता है।

प्रेम का अर्थ है पुरस्कार की कामना किये बिना दूसरे की भलाई करना। इस अर्थ को समझकर प्रेम करने वाले व्यक्तियों की संख्या संसार में यदि लाखों में दो-चार भी हो जाये तो समाज का और संसार का मानचित्र ही बदल जाय। पड़ोसी पड़ोसी से न लड़े, अदालतों में समय और धन की बरबादी न हो, प्रत्येक देश को युद्ध सामग्री के लिये अपनी सारी शक्ति खर्च न करनी पड़े। संसार स्वर्ग बन जाय।

साहित्यकारों का कहना है कि प्रेम और घृणा के बीच एक पतला-सा परदा है जो दोनों को अलहदा किये हुए है। अन्यथा दोनों आवेश एक ही भावना के दो रूप हैं। यह बात प्रेम के लिये नहीं वासना मूलक आकर्षण के लिये ही सच है। प्रताड़ित वासना (प्रेम नहीं) घृणा के रूप में बदल जाती है। प्रेम और वासना में यही भेद है कि

सच्चा प्रेम असफल होकर भी विकृत नहीं होता

वह कभी प्रताड़ित नहीं होता । बदले में पूरा मूल्य न मिलने पर ही कोई भी भावना प्रताड़ित होती है । प्रेम (वासना) का बदला जब अभीष्ट प्रेम से न मिले तब प्रेमी का हृदय घृणा से भर जाता है । किन्तु सच्चा प्रेम तो मूल्य या बदले की अपेक्षा ही नहीं रखता । वह तो केवल आत्म-तुष्टि के लिये प्रेम करता है । प्रेम के प्रकाशन में ही वह आत्म-तुष्टि पूर्ण हो जाती है । इतने में ही उसकी तृप्ति हो जाती है । इसीलिये वह प्रेम का प्रदान करते हुए पात्र-अपात्र की परीक्षा नहीं करता । पापी भी उसके प्रेम का पात्र है । कोई भी पापी सम्पूर्ण रूप से पापी नहीं होता । परिस्थितियां उसकी किन्हीं चेष्टाओं को पापमय बना देती हैं । मैले-कुचैले कपड़ों में ढकी हुई सुन्दर काया की तरह मनुष्य की आत्मा भी मैली वासनाओं से ढकी रहती है । वे कपड़े सुन्दर शरीर के बाह्य रूप को ही घिनौना बनाते हैं—शरीर के अन्तरीय सौन्दर्य को नष्ट नहीं करते । इसी तरह मनुष्य की दिव्य आत्मा भी वासनाओं के आवरण से मलिन प्रतीत होती है । प्रेमी हृदय मैले आवरण में आवृत ज्योतिर्मयी आत्मा से सदा प्रेम करता है । इस प्रेम का बदला यदि उसे विद्वेष से मिले, या उपेक्षा व तिरस्कार से मिले तो भी वह विकलमना व्यक्ति से घृणा, द्वेष, उपेक्षा का व्यवहार न करके सहानुभूति का ही व्यवहार करता है ।

जिस प्रेम का दीपक सदा एक-सा जलता रहता है वही सच्चा है

हमारे में से अधिकांश ऐसे हैं जो कोढ़ी को देखकर नाक-भौं सिकोड़ते हैं । उसके गलीजपने पर घृणा करते हैं । किन्तु जिसकी आत्मा में प्रेम का दीपक सदा जलता है वह उस कोढ़ी से भी प्रेम करेगा, उससे सहानुभूति करेगा । संभव होगा तो वह उसका उपचार भी करेगा । हम सभी जानते हैं कि महात्मा गांधी अपने आश्रम में एक कोढ़ी के घावों को अपने हाथ से धोते थे । मानव-प्रेमियों के आस-पास ऐसे

रोगियों की भीड़ ही लगी रहती है। उनका हृदय प्रेम का ऐसा झरना होता है जो सदा स्वच्छन्द बहता रहता है। दुनिया में प्यासों की कमी नहीं। जो प्यासा हो वह उस झरने से पानी पी सकता है। वहां 'परमिट' या 'लाइसेन्स' की जरूरत नहीं।

हमारी अमीरी हमें प्रेम नहीं, द्वेष करना सिखलाती है

प्रेम के दान में मूल्य नहीं लगता; धन खर्च नहीं होता। दूसरे की वेदना में अपनी वेदना समझना और उसे अपना ही अंग जानकर उसका उपाय करना ही उससे प्रेम करना है। जिन्हें केवल मानसिक सन्ताप होता है। उनकी बात को धीरज से सुनने और सहानुभूति प्रकट करने में कोई मूल्य नहीं लगता। यही उनका उपचार है। इतने से ही उनकी विक्षिप्त आत्मा को शान्ति मिलती है। सहानुभूति का एक शब्द कई बार मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को डूबने से बचा देता है। फिर भी, हममें कितने हैं जो किसी विक्षिप्त व्यक्ति की बात पर कान देते हैं। साधारणतया लोग प्रत्येक बीमार से, वह मानसिक हो या शारीरिक, दूर भागते हैं। अमीर आदमी हर गरीब आदमी को चोर समझता है या भिखारी। शरीर से स्वस्थ व्यक्ति हर निर्बल आदमी को छूत की बीमारी से ग्रसित समझता है। हमारी अमीरी और हमारी समता हमें दुनिया से द्वेष करना सिखाती है। हमारा पांडित्य, हमारी विद्वत्ता दूसरों को मूर्ख बनाना सिखाती है। ऐसी अमीरी और ऐसी विद्वत्ता प्रेम के बिना मानव मात्र के लिये अभिशाप है। प्रेम ही है जो इन गुणों को मानव के लिये कल्याणकारी बनाता है। इसलिये चरित्र निर्माण में प्रेम का महात्म्य सबसे बड़ा है।

दो युवक हृदयों का प्रथम प्रेम

साहित्य की भाषा में प्रेम शब्द प्रायः स्त्री-पुरुष के लैंगिक आकर्षण में ही प्रयोग किया जाता है। वयः प्राप्त युवक युवती का प्रथम आकर्षण प्रकृतिगत होने के कारण प्रायः स्वार्थ रहित और प्रेम प्रेरित ही होता है। ईश्वर ने दोनों हृदयों में एक दूसरे के प्रति स्वाभाविक प्रेम दिया है। दोनों के हृदय, यदि

किन्हीं विकारों के प्रभाव से बचे हुए हों, तो एक दूसरे से मोह की इच्छा से नहीं बल्कि प्रेम की इच्छा से आकर्षित होते हैं। दोनों प्रेमी अपने प्रेम का पुरस्कार केवल प्रेम में चाहते हैं। जब तक उनका यह प्रेम विशुद्ध प्रेम रहता है तब तक उनकी आत्मा में एक दैवीय प्रकाश हर समय जलता रहता है। उन्हें पृथ्वी अकाश की हर चीज में इन्द्र-धनुष के रङ्गों की चमक दिखलाई देती है। सूर्य की प्रथम किरण उनके प्रभात को स्वर्णिम बना देती है। प्रभाती पवन के झोंके उनके रोम २ को पुलकित कर देते हैं। अस्ताचल की घाटी से उठती हुई पपीहे की पागल पुकार उनमें प्यार का उन्माद भर देती है, पर्वत शिखर से झरते हुए निर्झरों की मरमर ध्वनि का संगीत उन दोनों हृदयों की तारों को झंकृत कर देता है, आकाश में उड़ते हुए हंसों की टोली उनकी कल्पना को पंख लगा देती है।, घनघोर घटाओं की कूक में भी उन्हें संगीत सुनाई देता है। बरसात की झकझोर लहराती हवाओं में उनकी भावनायें झूम झूमकर खेलती हैं और उनकी मूसलाधार पानी की टपटप उनके दिलों को गुदगुदाती है, उनमें उल्लास भारती है।

विवहित प्रेम का आदर्श

प्रेम का उन्माद उनके जीवन को सब रंगों में रंगता है। वह प्रेम का सच्चा रूप है। किन्तु, यह नशा देर तक नहीं रहता। विवाह की वेदी पर आजन्म-साहचर्य का व्रत लेने के कुछ काल बाद यह स्वाभाविक प्रेम केवल साहचर्य का अंग ही रह जाता है। प्रेम का स्थान व्रत, धर्म, नियम, मर्यादा ले लेते हैं।

युवक-युवती में स्वाभाविक रूप से विद्यमान प्रेम की बहती धारा को विवाह के धर्म-बन्धन में बांधने की यह प्रथा सामाजिक उपयोगिता को दृष्टि में रखकर प्रचलित हुई थी। घर बसाना, सन्तान की उत्पत्ति करना और उनके पालन-पोषण-शिक्षण का प्रबन्ध करना यही इस प्रथा का उद्देश्य था यह उद्देश्य बहुत ऊंचा था। प्रत्येक स्वाभाविक

प्रवृत्ति को रचनात्मक कार्यों में रूपान्तरित करना ही मनुष्य का सच्चा आदर्श है। इसी में उस प्रवृत्ति की पूर्णता है। अन्यथा वह प्रवृत्ति निरुद्देश्य होकर पथभ्रष्ट (perverse) हो जाती है। यौन प्रेम को कलात्मक रूप देकर मनुष्य की बुद्धि ने उसे पथभ्रष्ट होने से बहुत अंश तक बचाया है। इसके लिये हमें विवाह प्रथा के आविष्कर्त्ताओं के प्रति कृतज्ञ होना चाहिये। किन्तु हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि इस रूपान्तर में भी वही क्षति हुई है जो प्रत्येक रूपान्तर में होती है। वह यह कि इस रूपान्तर में भी मूल वस्तु का सौन्दर्य नष्ट हो गया है। जिस सौन्दर्य के लोभ से हम किसी वस्तु का रूपान्तर करते हैं, यदि रूपान्तरित करने की प्रक्रिया में वह सौन्दर्य ही नष्ट हो जाता है तो हम स्वयं अपने आदर्श की हत्या कर देते हैं। विवाह के बन्धनों में प्रेम की मूल कल्पना का गला ही घुट जाय तो विवाह का प्रयोजन वहीं नष्ट हो जाता है।

विवाह, प्रेम की डोर में दो आत्माओं को पिरोकर माला बनाना है

कुछ लोग यह मानते हैं कि विवाह और प्रेम का अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। प्रेम का अपना स्थान है, विवाह का अपना। मेरे विचार में भी प्रेम का क्षेत्र बहुत व्यापक है। वह विवाह तक ही सीमित नहीं। किन्तु विवाह के क्षेत्र में प्रेम का होना अनिवार्य है। प्रेम विवाह के बिना भी चल सकता है किन्तु विवाह बिना प्रेम के सफल नहीं हो सकता। विवाह दो व्यक्तियों को जिस सूत्र में पिरोता है, वह सूत्र यदि प्रेम का नहीं होगा तो या तो वह टूट जायगा अथवा वह, जिन व्यक्तियों को उसमें पिरोया है, उनके गले की फांसी बन जायगा। दो भिन्न प्रकृति के व्यक्ति केवल प्रेम-डोर से ही इतनी घनिष्टता से बांधे जा सकते हैं कि उनका बन्धन उनके जीवन की जंजीर न बनकर विकास का साधन बन जाय। वैवाहिक कर्त्तव्यों के विषम मार्ग में जिस पति-पत्नी का प्रेम नष्ट हो जाय वे अपने जीवन

का शेष मार्ग बड़े कष्ट से पूरा करते हैं। उन्हें एक दिन कई युगों के समान लम्बा होजाता है। छोटे-छोटे काम पहाड़ जितने भारी हो जाते हैं। उनका हर सांस मृत्यु का आह्वान करता है। उनकी ज़ुबान से यही आवाज़ निकलती है:—

जिन्दा हूं, मगर, ज़ीस्त की लज्ज़त नहीं बाक़ी,
वह गुल हूं खिज़ां ने जिसे बरबाद किया है

उनके घरेलू जीवन के उपवन में फूलों की जगह कांटों का बाग लग जाता है। एकाध कांटा हो तो कोई दूर भी करे, जहां कांटों की झाड़ियां ही झाड़ियां उग आयें, वहां का माली क्या करे?

विवाहित जीवन की उलझनें

विवाहित-जीवन के कांटों से लहूलुहान स्त्री-पुरुषों को देखने के लिये कहीं दूर जाने की ज़रूरत नहीं है। जिसे देखो वही घायल है। किसी के दिल की तह तक तक पहुंचते ही वहां उसके कराहने की आवाज़ आनी शुरू हो जायगी। हम ज़ुबान पर ताला लगा सकते हैं, आंखों पर पहरा नहीं बिठा सकते। विषाद में डूबी हुई आंखें, माथे की त्योरियों, होठों की मसली हुई हंसी, दिल की बात कह देती हैं।

यह सब क्यों है? विवाहित जीवन के असन्तोष की लपटें आकाश में इतनी ऊंची क्यों जा रही हैं? वैवाहिक असफलता की कहानियों से हमारा साहित्य क्यों पटा पड़ा है? मुरझाये हुए दिलों की पंखड़ियां विनाश की आंधी में चारों ओर क्यों बिखर रही हैं?

इन प्रश्नों का एक ही उत्तर है; विवाह करते ही हम प्रेम करना भूल जाते हैं। शायद विवाह की वेदी की आग में हम अपने प्रेम की ही आहुति दे देते हैं। विवाह के मन्त्रों की उलझन में हम जीवन के इस गुरु मन्त्र को भूल जाते हैं कि प्रेम-प्रेरित कर्म ही सफल होते हैं। हम यह भी भूल जाते हैं कि प्रेम का अर्थ प्रतिफल की कामना किये बिना देना है। प्रेम का प्रतिफल प्रेम के सिवा कुछ नहीं।

विवाह करने के बाद जब जीवन की आवश्यकतायें हमें क्रियात्मिक होने का संदेश देती हैं तो हमारा दिल अपने प्रेम का मूल्य मांगने लगता है; अपने बलिदान की कीमत चाहने लगता है। मूल्यांकन की चेतना जागते ही हम सौदागर बन जाते हैं। हम थोड़ा देकर अधिक की आशा करने लग जाते हैं। हमारी वणिक् वृत्ति हमें अपनी वस्तु का मूल्य अधिक लगाने और दूसरे की बहुमूल्य वस्तु को भी मिट्टी का खिलौना समझने की आदत डाल देती है।

स्कॉटलैंड के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक 'नील' ने एक जगह इस सम्बन्ध में लिखा है :--

"दाम्पत्य जीवन की अधिकतर कठिनाइयों का कारण यह है कि विवाह में हम अपनी प्रेमिका से अपने प्रेम का प्रतिफल चाहते हैं। लिंगैषणा के क्षेत्र में तो उत्तर सहज में मिल जाता है किन्तु जैसे २ दिन बीतते जाते हैं, वैसे २ उसे प्रेम के प्रतिफल की मांग असह्य होती जाती है।"

जब विवाह स्त्री-पुरुष का परस्पर शोषण ही रह जाय

पत्नी पति का मूल्य लगाती है उसकी कमाऊ शक्ति से और पति पत्नी का मूल्य लगाता है उसकी जवानी से, या उसकी गृहकार्य में दक्षता से। मूल्य लगाने की भावना जागते ही तुलनात्मक बुद्धि जाग जाती है। पत्नी को अपनी जवानी के मूल्य में पति का उपार्जन कम दिखने लगता और पति को अपनी धनार्जन शक्ति की तुलना में पत्नी का यौवन हल्का लगने लगता है। पति पत्नी, दोनों देने की बात भूलकर अपने साथी से लेने और अधिकाधिक लेने की चालें चलने लगते हैं। परस्पर शोषण की यह कामना दोनों का शोषण करती है। शोषण करने वाला स्वयं भी शोषित होता है। तभी विवाहित स्त्री-पुरुष का मिलन दो आत्माओं का मिलन न रहकर दो चालाक व्यापारियों का सौदा बन जाता है। तब दोनों का प्रेम प्रताड़ित होकर विलास के झूठे

आवरण में शरण ढूढता है। वस्तुतः यह विलास प्रेम का पथ-भ्रष्ट रूप (Perversion) है।

विवाहित जीवन की विषमताओं को दूर करने का उपाय केवल प्रेम ही है। अन्य सब तरीकों का इस्तेमाल वृक्ष की जड़ को न सींच कर पत्तों को पानी देने के समान है। विवाहित प्रेम पर सैकड़ों पुस्तकें लिखी गई हैं। उनमें व्यावहारिक कठिनाइयों का व्यावहारिक समाधान लिखा गया है। किन्तु ना तो कठिनाइयों का कोई अन्त है, ना उनके समाधानों का। वस्तुतः सब समाधानों का समाधान प्रेम ही है। जो प्रेम जन्म से एक दूसरे के दुश्मन दो जीवों को मित्र बना सकता है, वह क्या दो सहज आकर्षण से मिले स्त्री-पुरुष के मन्द होते सौहार्द को वापिस नहीं ला सकता? प्रेम की बयार ऐसी है जो एक ही झोंके में जीवन की मुरझाती शाखाओं को हराभरा कर देती है। पुरस्कार की कामना किये बिना आप अपना प्रेम दान करेंगे तो आप को प्रेम अवश्य मिलेगा। प्रेम के बदले यदि आप प्रेम के अतिरिक्त कुछ चाहेंगे तो आप प्रेमी नहीं, अधम सौदागर हैं। किसी स्त्री को धन की इच्छा है, विलास की इच्छा है, नाम को इच्छा है तो उसे चाहिये वह धन पैदा करे और कीर्तिवन्त काम करके यशोपार्जन करे और अपने धन से जितने भोग भोगना चाहे भोगे। विवाह द्वारा अपनी धन-लिप्सा शान्त करके वह विवाह को बदनाम न करे। इसी तरह यदि किसी पुरुष की भोगेच्छा असाधारण रूप से बलवती है या वह अपने वैभव से दुनिया की जवानी को खरीदने का अहंकार पूरा करना चाहता है, तो उसे चाहिये कि वह जवानी के बाज़ार का सौदागर बन जाय, विवाह की पवित्रता को नष्ट न करे, प्रेम के नाम पर अपनी भोगलिप्सा को बुझाने का यत्न न करे। ऐसा व्यक्ति समाज का शत्रु है, मनुष्य के रूप में भेड़िया है।

प्रायः ऐसे, स्वयं को धोखा देकर दुनिया को धोखा देने वाले, स्त्री-पुरुष ही विवाह की असफलता का ढिंढोरा पीटा करते हैं। वे विवाहित

जीवन की विषमताओं से नहीं बल्कि अपनी दूषित वासनामूलक कल्पनाओं से ही ठगे जाते हैं। इन विकृत व्यक्तियों की यह पुकार होती है कि विवाहित जीवन की असफलता सिद्ध होने पर पति पत्नी दोनों को सम्बन्धविच्छेद का अधिकार होना चाहिये। मेरी सम्मति में इसमें किसी भी व्यक्ति को उसकी इच्छा के बिना ना तो सम्बन्धित करना चाहिए और ना ही विच्छेद के अधिकारों से वंचित करके अनिच्छापूर्वक संयुक्त युगल को सदा सम्बन्धित रहने को बाधित करना चाहिये। विवाह में दो आत्माओं का स्वतन्त्र रूप से मिलन होना चाहिए। प्रेम और स्वतन्त्रता साथ-साथ चलते हैं। प्रेम में परवशता को कोई स्थान नहीं है। हां किन्तु, प्रेम स्वयं स्वेच्छा से परवश हो जाता है। जिस बन्धन में आत्मा स्वयं अपने आपको बांध लेती है वही प्रेम की डोर है। किन्तु यदि वह डोर उसके गले की फांसी बनने लगे तो वह प्रेम की नहीं, घृणा की, भय की डोर बन जाती है। उसे तोड़कर फेंक देना चाहिये। लोग विवाह-बन्धन से विच्छेद का कानूनी अधिकार चाहते हैं, मैं तो समझता हूँ कि मन में विच्छेद की भावना आगते ही अलग हो जाना चाहिये। प्रेम का सूत्र टूटने के बाद दुनिया भर की जंजीरें दो आत्माओं को नहीं मिला सकतीं। अस्तबल में हम दो बैलों को खूंटे से बांध कर रख सकते हैं किन्तु स्त्री-पुरुष को भी यदि इसी तरह सामाजिक कानूनों से बांधा गया तो उनकी मनोवस्था भी बैलों की सी हो जायगी। अतः उन्हें विच्छेद का पूरा अधिकार देना चाहिये।

यहां तक तो मैं उनकी पुकार से सहमत हूँ किन्तु इस बात में मुझे बहुत सन्देह है कि जो पुरुष अपनी प्रथम पत्नी को प्रेम करना नहीं जानता, वह दूसरी पत्नी को कैसे प्रेम कर सकेगा ? वैवाहिक असफलता का कारण मनुष्य को अपने प्रेम में ढूंढना चाहिये। यह आत्मनिरीक्षण उसे बता देगा कि उसके प्रेम में कौन सी ऐसी त्रुटि है जो वह अपनी स्त्री के हृदय में प्रेम की ज्योति नहीं जगा सका। इसी तरह

असन्तुष्ट पत्नी को भी अपने प्रेम की परख करनी चाहिये। यदि वह एक पुरुष को प्रेम प्रदान नहीं कर सकी तो दूसरे को कैसे कर सकेगी?

जीवन का स्वर्णिम क्षण

अपवाद तो दुनिया में होते ही हैं किन्तु साधारणतया मेरा यह विश्वास है कि यौवन के प्रभातकाल में जिन दो स्त्री-पुरुषों की आत्मायें मिलती हैं उनका प्रेम चिरस्थायी रहता है, क्योंकि वे प्रेम के लिये ही मिलते हैं। दुनिया की ऊँच-नीच से उनका मन मलिन नहीं हुआ होता। उनका विवाहित जीवन असफल हो तो दोनों को बड़ी गम्भीरता से अपनी त्रुटियों का अध्ययन करना चाहिये। मनुष्य की बड़ी से बड़ी त्रुटि उसके प्रेम से छोटी होती है। वह जिसे प्रेम करता है उसे उसकी सम्पूर्ण त्रुटियों के साथ प्रेम करता है। उसके दोष भी उसे प्रिय हो जाते हैं। प्रेम जादू की वह छड़ी है जो मनुष्य को देवता बना देती है। मैं यह नहीं मानता कि प्रेम विवाहित स्त्री-पुरुष के बिगड़े सम्बन्धों को नहीं संवार सकता। तलाक द्वारा सम्बन्ध तोड़ने पर आग्रह करना सचाई से कन्नी काट कर बच निकलने की प्रवृत्ति है। यह कठिनाई का सच्चा हल नहीं है।

सच्चा हल है—प्रेम, निष्काम प्रेम। निष्काम कर्म की महिमा को गीता ने गाया है, निष्काम भावना की महिमा उससे भी ऊँची है। वही कामनारहित भावना प्रेम है।

मैत्री, प्रेम की अभिव्यक्ति का सुसंस्कृत रूप है।

मैत्री की भावना आज के सुसंस्कृत जीवन में प्रेम की ही अभिव्यक्ति का एक रूप है। सभ्यता की राह पर चलते हुए मनुष्य ने अपनी प्रवृत्तियों के आधार पर जो नई मनोभावनायें बनाई हैं—उनमें मैत्री की भावना भी है। नई सभ्यता ने परिस्थितियों को एक ओर जटिल बना दिया है दूसरी ओर उन परिस्थितियों में आसानी से रहने के उपायों का आवि-

हृदय में स्नेह का बीज बोता है तो उसे सहानुभूति मिल जाती है । स्नेह का आदान-प्रदान ही मित्रता का नाम है । स्नेह के बदले स्नेह चाहने वाला ही मित्र हो सकता है । वह स्नेह ही देता है और स्नेह ही लेता है—अन्य कोई स्वार्थ उसका प्रेरक नहीं होगा। मित्रता मन का सम्बन्ध है । शारिरिक आकर्षण का इसमें कोई स्थान नहीं । प्रेम और मैत्री में यही भेद है । प्रेम में मनुष्य शरीर और मन दोनों का सर्वस्व दान करता है । मैत्री में शारीरिक समर्पण का कोई प्रश्न नहीं उठता । एक दूसरे में अटल विश्वास की उत्कृष्ट भावना और एक दूसरे के प्रति सच्चा व्यवहार मैत्री के पौधे को सींचते हैं ।

जीवन में प्रेमी मिल जाते हैं, सच्चे मित्र नहीं मिलते। धोखा देने वाले लोग स्वार्थपूर्ति के लिये कुछ दिन मैत्री बनाते हैं—किन्तु धोखा देर तक टिकता नहीं । मित्र पाने के लिये स्वयं मित्रता के योग्य बनना पड़ता है । यदि आपको अभी तक सब धोखा देने वाले ही मिले हैं तो आप अपने ही अन्तर में झांककर देखिये । आप ही शायद मित्रता के योग्य न हों, आपने कभी स्वार्थ-भावना को तजा न हो और प्यार देने की भूख अनुभव न की हो । हम किसी को विश्वासपात्र बनाकर अपनाने में डरा करते हैं । किसी के सुखदुख में साक्षी बनने और किसी को अपने सुखदुख का साक्षी बनाने में सैकड़ों तरह के सन्देह करते हैं । हमारी संशयशील वृत्ति हमें किसी का सच्चा मित्र नहीं बनने देती । आपके सन्देह की छाया दूसरे के हृदय में प्रतिबिम्बित होती है । उसका प्रतिबिम्ब केवल आपके व्यवहारों को ही विषाक्त नहीं बनाता, दूसरे के दिल को भी संशयशील बना देता है ।

मित्रता का पौदा वह जंगली पौदा नहीं है जो पहाड़ की सूखी चट्टान में स्वयं पैदा हो जाता है और आंधी-तूफानों की छाया में

खूब बढ़ता जाता है। यह तो मनुष्य के नन्दनवन का वह सुकुमार पुष्प है जिसे प्रतिक्षण माली के उदार प्रेम की, सहृदय मन की, समवेदना की और अविकल विश्वास की निरन्तर आवश्यकता है। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में ये भाव प्रसुप्त रूप से सदा रहते हैं। चरित्र निर्माण का प्रयोजन इन प्रसुप्त गुणों को जागृत करना है। इनके पानी से आप न केवल व्यक्तिगत मैत्री के पौधे को सींचेंगे— अपितु, मानव प्रेम के ऊँचे आदर्शों को व्यवहार में पूर्ण करेंगे।

मानसिक जटिलता का अन्त आत्म-स्वीकृति से ही हो सकता है।

जो मनुष्य किसी का मित्र नहीं बनता, अपने आपको दूसरों से अलग, अपने में ही समेटे हुए रखने की चेष्टा करता है उसके विचार उतने ही अधिक जटिल हो जाते हैं। मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की भावनायें उत्पन्न होती रहती हैं। उन भावनाओं को अपने मित्रों के सामने प्रकाशित करते रहने से वे मानसिक जटिलता का कारण नहीं बनतीं। किन्तु हम सब भावनायें मित्रों के सामने भी प्रकाशित नहीं करते। हमें डर होता है कि उन्हें जान कर हमारे मित्र हमसे घृणा करने लग जायेंगे। इसी तरह हम अपने अनेक पापों को मन में छिपाये रहते हैं। अन्तरंगतम मित्रों के सामने भी उन्हें प्रकट नहीं करते। मन के गहरे गर्दों में उन्हें हज़ार कोशिशों से ढककर रखते हैं। एक पाप को छिपाने के लिये अनेक पाप करने पड़ते हैं। वह भी हम करते हैं। छिपाने की यह प्रवृत्ति यहां तक बढ़ जाती है कि हम अनेक दुष्कर्मों को अपने आप के सामने भी स्वीकृत करना नहीं चाहते। हमारी कोशिश यह रहती है कि हम उनको तर्कसम्मत बना सकें। दलीलों से उन पापों को स्वाभाविक प्रवृत्ति कह कर हम आत्म-सन्तोष करना चाहते हैं। तार्किक व्यक्ति कई बार इस चेष्टा में सफल भी हो जाते हैं। किन्तु झूठा सन्तोष देर तक साथ नहीं देता। पाप की आग राख के अन्दर से भी जल उठती है। तब हम उसे अपनी मानसिक जटिलताओं से ढकने की चेष्टा

करते है। इस चेष्टा में हमारा मन रोगी हो जाता है। वह रोग स्वयं हमारी छिपी हुई जटिल भावनाओं को प्रकाशित करने लगता है। वह जटिलता निर्बल होकर टूक-टूक हो जाती है। युरोप के वैज्ञानिक यंग महाशय का कथन है कि बाह्य रोग के रूप में जब भीतरी मानसिक विकार निकल जाता है तो व्यक्ति आरोग्य का अनुभव करता है। बुद्ध भगवान ने इसीलिये मनुष्यों को उपदेश दिया था कि:—

"ढके हुए को खोल दो, छुपे हुए को प्रकाशित कर दो तो तुम अपने पापों से मुक्त हो जाओगे।" ईसाई धर्म में इस आत्म-स्वीकृति का बड़ा महत्त्व है। वे मानते हैं कि (Confession) आत्म-स्वीकृति से मनुष्य ईश्वर की क्षमा का पात्र बन जाता है। क्षमा का पात्र इस अर्थ में बनता है कि उसकी घनीभूत भावनाओं के बादल जब आंसुओं में बरस जाते हैं तो दिल के आकाश में बादलों की गरज, बिजली की कड़क बन्द हो जाती है। पूर्णिमा का चांद आत्मिक शान्ति के रूप में खिल उठता है। यही ईश्वर की सब से बड़ी क्षमा है।

आत्म-स्वीकृति भी मानसिक भावनाओं की अभिव्यक्ति का ही एक रूप है।

आत्म-स्वीकृति भी एक तरह की अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति न पाकर मनुष्य की जटिल भावनायें उसे पागल बना देती है। पागलपन का प्रायः यही कारण होता है। मुझे कई पागलों का इतिहास जानने का मौका मिला है। पागलखाने के डाक्टरों से भी बातचीत हुई है। थाना (बम्बई) के पागलखाने के डाक्टर ने मुझे बताया कि उनके पास पागलपन के जितने रोगी हैं उनमें से अधिकांश लैंगिक भावनाओं (sex) को अभिव्यक्ति न मिलने के कारण पागल हुए हैं। एक पागल अपनी स्त्री की बहन से प्रेम करता था, दूसरा अपने मित्र की स्त्री से प्रेम करता था, तीसरा अपने पड़ोसी की लड़की को चाहता था; इसी तरह के विकृत प्रेमी समाज के भय से अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त न कर

सके। अच्छा था वे अपने मन को प्रारम्भ में ही वश में कर लेते। किन्तु, ऐसा भी न हो सका। वे उसी की चिन्ता में भीतर ही भीतर घुलते रहे। मन में गांठ पर गांठ पड़ती गई। उन गांठों को खोलने का मौका नहीं मिला। दिन प्रतिदिन वे गांठें जटिल होती गईं और उनका मस्तिष्क निर्बल होता गया। आखिर जब वे इस अन्तर्द्वन्द्व की पीड़ा को सहन न कर सके तो ईश्वर ने उन पर कृपा करके उनकी चेतना उनसे छीन ली। प्रकृति का यह नियम बड़ा ही अच्छा है कि दर्द के हद से बाहिर जाते ही मनुष्य निःसंज्ञ हो जाता है। मानसिक पीड़ा के लिये भी यह उतना ही सच है जितना शारीरिक पीड़ा के लिए। पागलपन इसी तरह की निःसंज्ञता है।

सहानुभूति ही मन की ग्रन्थियों का उपचार है।

इसका केवल एक ही उपचार है—सहानुभूति। पागलों को बीमार कह कर अलग कर देने से वे और भी पागल हो जाते हैं। सच तो यह है कि किसी ऐसे सच्चे मित्र के अभाव में ही, जो उनकी बात सहानुभूतिपूर्वक सुन सके, पागल आदमी अपने मन की गांठें नहीं खोलता; और वह पागल हो जाता है। सहानुभूति पाकर ही वह अपने दिल को किसी के सामने खोलेगा। इसलिये डाक्टर का पहला कर्तव्य यह होता है कि वह पागलपन के रोगी को अपने विश्वास में लाकर उसे अपना सच्चा मित्र बनावे। रोगी को यह डर न रहे कि उसका भेद खुल जाने पर वह उसकी नज़रों में या दुनियां की नज़रों में गिरा दिया जायगा।

यूरोप के प्रसिद्ध मानसिक रोगों के चिकित्सक डाक्टर होमर क्रेन ने पागलपन की चिकित्सा में अनेक सफल प्रयोग किये हैं। उन्होंने लिखा है कि "रोगी चेतन और अचेतन मनमें एकरसता पैदा हो जानेके बाद स्वयं रोगमुक्त हो जाता है। यह एकरसता तभी आती है जब सहानुभूति का प्रकाश पाकर उसके अर्ध-चेतन मन की छुपी भावनायें स्वयं बाहिर आने लगती है।"

डाक्टर को रोगी का विश्वासपात्र बनने के लिये उससे न केवल बड़े ही प्रेम का व्यवहार करना पड़ता है वरन अपने आपको भी उसके समक्ष खोलना पड़ता है। उसे कई बातें अपने अनुभव की कहनी पड़ती हैं। अपने दिल की छुपी बातें कहनी पड़ती हैं—जिससे उसे आत्म-स्वीकृति करने में प्रोत्साहन मिले। यदि कोई पागल काम संबंधी दुराचार से रोगी हुआ है तो अपने दुराचारों के एक-दो उदाहरण देना आवश्यक होता है। इससे रोगी को उसके साथ आत्मीयता स्थापित करने में सहायता मिलती है।

माता-पिता का प्रेम भी स्वार्थमूलक हो सकता है

प्रेम का स्थान चरित्रनिर्माण में बहुत महत्त्व का है। हम अपने प्रेम से अपना चरित्र ही नहीं बनाते, अपने बच्चों का भी बनाते हैं। माता-पिता का सन्तान के प्रति सच्चा प्रेम ही सन्तान को चरित्रवान् बनाता है। आप कहेंगे, क्या माता पिता का प्रेम भी झूठा हो सकता है। झूठा होने का अर्थ है कि क्या वे भी प्रतिफल की कामना से बच्चों का पालन पोषण करते हैं? मेरा विश्वास है कि माता पिता का सन्तान-प्रेम भी प्रायः स्वार्थमूलक होता है। मां-बाप बच्चों से प्रायः यह कहा करते हैं कि "बेटा हमारी लाज रखना, कुल के नाम पर कलंक न लगने देना"। अपनी लाज पर, जो प्रायः झूठे अभिमान से बनी होती है, या कुल की शोभा पर बच्चों के जीवन को कुर्बान कर देना मां-बाप अपना ईश्वर-प्रदत्त अधिकार समझते हैं। अपनी झूठी शर्म रखने के लिये पिता अपनी लड़की को जहर देकर मार देता है और लड़के को दुनिया में ठोकरें खाने को छोड़ देता है। जिस कुल की लाज के लिये मां-बाप इतने चिन्तित रहते हैं वह कुल कुछ स्वार्थी, मूर्ख, पाखंडी, लोगों की जमात होती है। इस मूर्खमण्डल के सामने नाक रखने की इच्छा मां-बाप के हाथों सन्तान का खून करवा देती है। अपने कोख से ही जन्म देने वाली माता बहुत बार यह कहते सुनी जाती है कि "हे भगवान!

इस कलमुंही को देने के बदले तो हमें निपूता ही रखते"। बहुत से मातापिता अपने पुत्र का पालन केवल इसीलिये करते हैं कि आगे चलकर वह उनके बुढ़ापे का सहारा बन सकें।

मां-बाप की स्वार्थ-भावना बच्चे के चरित्र पर बुरा प्रभाव डालती है। स्वार्थ के साथ प्रेम का कोई सम्बन्ध नहीं। मां-बाप स्वार्थी होंगे तो प्रेम नहीं कर सकेंगे। जो बाप बच्चे की भावनाओं को चोट पहुँचाता है, उनकी त्रुटियों को सहन नहीं करता, उनकी बातों को समझ कर उन्हें रचनात्मक कार्यों में लगने को उत्साहित नहीं करता, उनकी कठिनाइयों को आसान बनाकर आगे बढ़ने को प्रवृत्त नहीं करता, वह अपने बच्चे को प्यार नहीं करता।

निष्प्रेम मां-बाप बच्चों के मन में ज़हर भरते हैं

जो मातापिता प्रेम की जगह हंटर या बेत से बच्चे को सुधारना चाहते हैं, वे भी बच्चे के दुश्मन होते हैं। खिझ कर या चिढ़कर मां-बाप बच्चे को पीट देते हैं। इस पिटने से बच्चे के मन में न केवल मां-बाप के लिये घृणा का भाव भर जाता है बल्कि वह दुनिया की हर चीज से घृणा करने लगता है। वह सोचता है यदि उसके मां-बाप इतने क्रूर, निर्दयी है तो दूसरे लोग तो पूरे कसाई ही होंगे। ऐसे बच्चे के हृदय में संसार के प्रति क्रूरता, घृणा, विद्वेष, प्रतिहिंसा के भाव भर जाते हैं। ये सब भावनायें बच्चे के चरित्र को दूषित बनाती हैं।

ऐसे प्रेमहीन मां-बाप को चाहिये कि वे बच्चों के चरित्र बनाने का काम अपने ऊपर न लेकर बच्चों को 'अपना जीवन जीने' की स्वतन्त्रता दे दें। अयोग्य अभिभावक बच्चे के चरित्र का निर्माण करेंगे तो बच्चा दुश्चरित्र बने बिना नहीं रह सकता। रूढ़िप्रिय मां-बाप बच्चों की मौलिक शक्तियों को नष्ट कर देते हैं। आयु बढ़ने के साथ मूर्ख मां-बाप बहुत दकियानूसी

अयोग्य अभिभावक चरित्र का नाश कर देते हैं

हो जाते हैं। वे अपने बच्चों को भी उसी संकीर्ण विचारधारा में बहाना चाहते हैं। ऐसे वातावरण में पले बच्चे किसी भी नये विचार को ग्रहण नहीं कर सकते। उनमें ताज़गी नहीं होती। उनकी नई रचना करने की प्रवृत्ति कुण्ठित हो जाती है।

जब माता-पिता स्वयं एक समस्या बन जांय

मां-बाप का जीवन प्रायः आर्थिक संकटों में जकड़ा रहता है। बाप को नौ बजे दफ्तर पहुँचना है—वहां मालिक के आगे सिर नीचा करके काम करना है। ऐसे बाप को खेलकूद व्यर्थ जान पड़ते हैं और वह बच्चे में भी सबके सामने सिर झुकाने की आदत डाल देता है। ऐसा बाप बच्चे के चरित्र को बिगाड़ देता है। वह अपने बच्चे को खाली समय खेलकूद करते देखकर ईर्ष्या करता है। उसे अपना ज़माना याद आजाता है और अपनी तकलीफें याद आजाती हैं। उसकी इच्छा रहती है कि उसका बच्चा उन्हीं यन्त्रणाओं को झेलता हुआ आगे बढ़े। कठिनाइयां उठाना स्वयं में कोई गुण नहीं है। लाखों व्यक्ति कठिनाइयां उठाते हैं और व्यर्थ उठाते हैं। सफलता फिर भी उनके हाथ नहीं आती। पिता ने कठिनाइयां उठाइयां हैं, इस लिये बच्चा भी उठाये, यह तर्क स्वार्थ से भरा है। कठिनाइयों से ही तो चरित्र नहीं बनता। सच तो यह है कि आर्थिक कठिनाइयों के साथ संघर्ष करने के कारण बहुत से मां-बाप का व्यक्तित्व अविकसित रह जाता है। उनकी अपने बच्चों को भी उन्हीं कठिनाइयों में से गुज़ारने की इच्छा बहुत अनिष्टकारी है। ऐसे मां-बाप में बच्चे के प्रति सच्चे प्रेम की भावना नहीं होती। वे बच्चे का चरित्र बनाने की बजाय बिगाड़ने का काम करते हैं। वे स्वयं एक समस्या बन जाते हैं।

बच्चे के प्रेम पर एकाधिकार पाने की इच्छा स्वार्थ है

मां-बाप का 'अहंभाव' भी बच्चे के चरित्र को दूषित करता है। बाप चाहता है कि उसके सिवाय उसके बच्चे का कोई 'ईश्वर' न हो। बच्चे में उसी की प्रधानता हो। मां-बाप बच्चे के प्रेम पर भी पूरा अधिकार चाहते हैं। वे हर समय उससे पूछते रहते हैं "तू मुझे कितना प्यार करता है?" इस प्रश्न के पीछे मां-बाप की यह कामना छिपी

रहती है कि "वह उनसे अधिक किसी को प्यार न करे।" बच्चे के मन में यदि किसी और का प्रेम घर करने लगे तो मां-बाप ईर्ष्यालु हो जाते हैं। बच्चे के प्रेम पर एकाधिकार पाने की इच्छा से मां-बाप बच्चे की अति-चिन्ता शुरू कर देते हैं। यह अति चिन्ता बच्चे के हृदय में माता-पिता के प्रति घृणा के भाव भर देती है। कारण यह है कि बच्चे के लिए अति चिन्ता करने के बाद मां-बाप बच्चों से भी अपने लिये अति चिन्ता की मांग करते हैं। वे बच्चे को कृतज्ञता से दबा कर उसके जीवन पर एकाधिकार करना चाहते हैं। बच्चे का हृदय स्वतंत्र होता है। वह इन संकीर्ण बन्धनों से आज़ाद रहना चाहता है। वह खुली हवा में खुली दुनियां में सब से खेलना चाहता है। मां-बाप के लिये ही अति चिन्ता करते हुए उसे अपनी स्वतन्त्रता का त्याग करना पड़ता है, अपनी खेलकूद का त्याग करना पड़ता है। यह त्याग बच्चे के विकास को ही नहीं रोकता बल्कि बच्चे के मन में मां-बाप के लिये घृणा भी भर देता है। बर्नार्ड शॉ की यह बात सोलहों आने सच है कि "जिसके लिये हम त्याग करते हैं उसी से हम आगे चल कर घृणा करने लगते हैं।" मां-बाप को याद रखना चाहिये कि बच्चा आज़ाद प्राणी है। वह कोई ऐसा वाद्य-यन्त्र नहीं जिसे मां-बाप अपनी इच्छानुसार बजायें।

बच्चों पर अपना धर्म मत लादिये

जो मां-बाप बच्चे पर अपना धर्म लादने की चेष्टा करते हैं वे भी बच्चे के शत्रु हैं। घर के दादा-दादी, चाचा-चाची प्रायः धर्म के नाम पर अपने बच्चों में भय और शंका का ज़हर डालती रहती हैं। बूढ़े होकर अज्ञ आदमी प्रायः प्रगति-विरोधी या परिवर्त्तन-विरोधी बन जाते हैं। बच्चे में प्रगति का भण्डार होता है। मां-बाप उस प्रगति पर रोक-थाम लगा देते हैं। नतीजा यह होता है कि बच्चे की प्रगति विकृत दिशाओं में चल पड़ती है। उसकी मन-स्थिति विकृत हो जाती है। उसकी प्रवृत्तियां दबकर उसके अचेतन मन में छिप जाती है जो समय पाकर अप्राकृत पापों के रूप में फूटती

है। ऐसे बच्चे ही बड़े होकर पक्के अपराधी (Criminal) बनते हैं।

बच्चों की रचनात्मक भावनाओं का सदुपयोग

इसलिये मां-बाप का यह कर्त्तव्य है कि वे बच्चे की रचनात्मक वृत्तियों को ठीक रास्ता दिखाने का ही काम करें न कि उनके निरोध का। "जीवन में यदि कुछ है तो वह रचनात्मक क्रिया ही है। यदि हम रचनात्मक होना बन्द कर दें तो हमारी आध्यात्मिक मृत्यु हो जायगी"।* मां-बाप के नैतिक उपदेशों की तुषार वर्षा में बच्चे के नवांकुरित मन की कोपलें मुरझाकर मर जाती हैं। अतः उचित यही है कि नैतिक उपदेशों के कांटों से बच्चे का रास्ता कंटीला न बनाया जाय। उन्हें प्रकृति की प्रेरणा के अनुसार जीने दिया जाय और जीवन का स्वयं अनुभव करके शिक्षा लेने दिया जाय। बच्चों का वातावरण ऐसा बनाना चाहिये कि उनकी रचनात्मक शक्तियों को व्यक्त होने का पूरा क्षेत्र मिले। बच्चों के चरित्र-निर्माण में मां-बाप इससे बढ़ कर और कोई सहायता नहीं कर सकते। केवल खिलौनों से बच्चों का मन नहीं बहलाया जा सकता। ऐसे अरचनात्मक खिलौनों से बच्चे बहुत जल्दी थक जाते हैं। उन्हें सन्तोष तभी होता है जब उन्हें कुछ करने को मिलता है। वह भी ऐसा काम जिसकी जीवन में उपयोगिता समझी जाय।

मां-बाप का यह भी कर्त्तव्य है कि वे बच्चे में हीनता के भाव पैदा न होने दें। हीनता की भावना (inferiority complex) विकास की सब से घातक भावना है। बच्चे में छोटा होने के कारण यों भी हीनता की भावना रहती है—फिर मां-बाप उसमें अपनी ओर से भी जोड़ देते हैं। बच्चों को कठिन प्रश्न हल करने के लिये देना भी इसी लिये बुरा है कि बच्चे अपने को असमर्थ समझने लगते हैं। उन्हें उनकी शक्ति के अनुसार सरल प्रश्न ही देने चाहियें।

---

*"माता पिता खुद एक समस्या" नील.

हीनता का एक कारण मां-बाप का बच्चों के डीलडौल की आलोचना करना होता है। मुझे एक ऐसी माता के बारे में पता है जो प्रायः अपने लड़के को 'बांस-सा लम्बा' और लड़की को 'कुबड़ी' कहती है। ऐसी ही एक प्रेमातुर मां अपनी लड़की के सम्बन्ध में प्रायः कहा कहती है "मेरी लड़की अपनी उम्र से छोटी दिखती है न ?" वह अपनी लड़की को बड़ी होने पर भी 'नन्ही' कहती रही।

माता पिता को आलोचक नहीं बनना चाहिये

मां-बाप की मूर्खता बच्चों में विचित्र ग्रन्थियां पैदा कर देती है। प्रायः सभी मां-बाप बच्चे के जीवन को इतना जटिल बना देते हैं कि इन उलझनों को सुलझाने में ही बच्चे की सारी उम्र खर्च हो जाती है। ऐसे मां-बाप को मनोविज्ञान की अच्छी पुस्तकें पढ़नी चाहियें। केवल अपना दूध पिलाने के कारण ही कोई मां अच्छी शिक्षिका नहीं बन जाती। दूध पिलाना सरल है, बच्चे का चरित्र बनाना कठिन है। ऐसी अर्धशिक्षित माताओं से हमारा यही निवेदन है कि वे बच्चों के चरित्रनिर्माण का बीड़ा न उठायें। उन्हें अपना स्वाभाविक प्रेम ही दें—शिक्षा न दें। अपने जीवन में सुधार करके ही बच्चों को शिक्षा दी जा सकती है। किन्तु कितने मां-बाप ऐसे हैं जो अपने में सुधार करने की आवश्यकता भी समझते हैं ?

मेरा यह अभिप्राय नहीं कि किसी भी मां-बाप को बच्चों के चरित्र-निर्माण का अधिकार नहीं है। ऐसे सौभाग्यशाली बच्चे भी हैं जिनके मां-बाप सचमुच बच्चों के चरित्र-निर्माण के लिये कष्ट उठाते हैं।

मेरे एक मित्र हैं जिनके एक-दो नहीं, १२ बच्चे हैं। जटिल बच्चा अपने घर को और पड़ोसियों के घर को नरक बनाने के लिये एक ही काफ़ी है, पर सुव्यवस्थित १२ बच्चे भी घर की शान्ति नहीं बिगाड़ते। १२ बच्चों के इस बाप ने उन सबकी नैतिक शिक्षा का भार अपने कन्धों पर लिया हुआ है। सुबह ही वह उन्हें लेकर मैदान में ड्रिल कराता

एक आदर्श गृह-प्रेम की व्यवस्था

है। सब मिलकर एक टीम की तरह शारीरिक व्यायाम करते हैं। बाद में वे दो भागों में बंट जाते हैं। वयस्क बच्चों का वह स्वयं मुखिया बन जाता है और छोटे बच्चों की मुखिया उनकी सबसे बड़ी बहिन बन जाती है। बाप की गैरहाजिरी में उसका बड़ा लड़का ही छः बच्चों के व्यवस्थित कामों का उत्तरदायी होता है। इस तरह का श्रम-विभाजन उसने घर के अन्य कामों में भी किया हुआ है। २-३ लड़कों का एक दल दूर से पानी भर लाता है और आसपास से लकड़ियां चुन लाता है। लड़कियों में दो का काम बाजार से चीज़ें लाना है, दो का काम रोटी बनाना। घर के अन्य काम भी बड़ी व्यवस्था से बटे हुए हैं। परिवार के सब सदस्य सारा काम अपने हाथ से करते हैं।

उनका घर स्वर्ग बन गया है।

नतीजा यह है कि यह १२ बच्चों का कुटुम्ब बहुत निर्धन होते हुए भी ज़िले भर में सबसे स्वस्थ है। उनके यहां कलह कभी नहीं होती। कलह के लिये उन्हें अवकाश ही नहीं है। वे सब बड़े स्वच्छ रहते हैं क्योंकि अपने वस्त्र स्वयं धोते हैं। एक दूसरे की सहायता करते हुए वे बड़े सन्तोष से, सुख से रहते हैं। उन लड़कियों की शादी जिन घरों में हुई है वे अपने भाग्य को सराहते हैं। घर को स्वर्ग बना दिया है। उन्होंने बचपन से स्वावलम्बी और व्यवसायप्रिय होने के कारण बच्चों में कार्य-तत्परता कूट-कूट कर भर दी है। मेहनत से वे कभी जी नहीं चुराते। उनका चरित्र स्वयं बन गया है। उन्हें इसका ज्ञान भी नहीं था कि वे चरित्र बना रहे हैं। इस परिवार ने जो आदर्श स्थापित किया, सभी मां-बाप उसका अनुकरण कर सकते हैं, यद्यपि मैं १२ बच्चे पैदा करने की नसीहत सबको नहीं दे सकता।

स्वच्छता, आज्ञापालन, व्यवस्था, समय-पालन, परहित-चिन्ता,

शिष्ट व्यवहार, नम्रता तथा अनेक अन्य गुण बच्चे अपने शैशव काल में ही सीख लेते हैं। एक वर्ष की आयु से बच्चा अपना चरित्र-निर्माण शुरू कर देता है। मां-बाप का अनुकरण वह सब भले-बुरे कामों में करता है। स्कूल जाने की उम्र तक उसके अधिकांश गुण पक चुकते हैं। स्कूल के शिक्षक उसे नई सीख नहीं दे सकते। वे चरित्रहीन विद्यार्थी की उपेक्षा करने लगते हैं। उसे सुधारने का प्रयत्न न करके उसे आंखों से दूर कर देते हैं। नतीजा यह होता है कि ऐसा दुर्विनीत बच्चा शिक्षा की सुविधाओं से भी वंचित रह जाता है। तब वह अपनी शक्तियां शरारत की ओर लगाता है। खाली घर शैतान का घर होता है। विकृत मन में शैतान खूब फलता-फूलता है। मां-बाप भी उन्हें रचनात्मक कार्यों में न लगाकर उनकी ओर से आंख मूंद लेते हैं, उन्हें उनकी दशा पर छोड़ देते हैं, अपना जीवन आप बिगाड़ने की छुट्टी दे देते हैं। बच्चा मां-बाप के पथ-प्रदर्शन से रिक्त रह जाता है। यह मां-बाप के प्रमाद का फल है।

खिलौनों के चुनाव का चरित्र में स्थान

माता-पिता को न केवल बच्चों के लिये खिलौने चुनने चाहिये बल्कि बच्चे की शक्तियों को सुदिशा में लगाने की भी व्यवस्था करनी चाहिये। और शिक्षा देते हुए उनकी रुचि के योग्य व्यवसाय चुनने में सहायता देने का कार्य भी मां-बाप को करना चाहिये। यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि मां-बाप को अपनी आकांक्षाओं को बच्चे पर लादने का अधिकार नहीं है। आपको चित्रकला का शौक है और आप उसे अपने जीवन में पूरा नहीं कर सके तो आप उसे अपने बच्चे द्वारा पूरा करना चाहते हैं। यह अनुचित है, अन्यायपूर्ण है। संभव है बच्चे को चित्रकला में रत्तीभर भी शौक न हो, वह इंजीनीयर बनना चाहता हो। आपका कर्त्तव्य है उसे इंजीनीयर बनने की सब सुविधायें दें।

व्यवसाय और चरित्र

अपने सच्चे व्यवसाय को खोजिये

मनुष्य यदि अपने व्यवसाय में सफल नहीं होता तो उसके चरित्र-निर्माण के सब प्रयत्न बेकार हैं। वेतन की बात छोड़ दें तो हर इन्सान का कोई न कोई व्यवसाय अवश्य होता है, किसी न किसी चेष्टा या चेष्टा-समूह में ही उसका जीवन लीन रहता है। कठिनाई यह है कि वह अपना व्यवसाय पहचान नहीं पाता। एक ही मनुष्य बहुव्यवसायी होता है। मोहन दफ्तर में क्लर्क है, घर में पति है, बच्चों का पिता है, समाज में मन्त्री है, खेल के मैदान में खिलाड़ी है, और क्लब में ब्रिज खेलने में सिद्धहस्त है।

श्रीमती मोहन को उनके व्यवसाय की बाबत पूछते ही वह उत्तर देंगी "मैं गृहणी हूँ, घर की देखभाल मेरा पेशा है।" अंग्रेजी वाले उसके पेशे के खाने में लिख देंगे:—पेशा — हाउसवाइफ। किन्तु यह सबको मालूम है कि गृहिणी होने का मेहनताना स्त्री को नहीं मिलता। फिर भी उसका व्यवसाय घर की देखभाल करना है। किन्तु यह उनका व्यवसाय है—इस बात से प्रायः सभी पत्नियाँ बेखबर होती हैं। अक्सर वे यही कहा करती हैं स्त्रियों को भी कोई व्यवसाय करने का अधिकार होना चाहिये। मन की यह अवस्था स्वस्थ नहीं है। हमें ठहरकर सोचना होगा कि हमारा व्यवसाय क्या है? हमें इसका निश्चित ज्ञान होना चाहिये। तभी हम पूरी लगन से, पूरी जिम्मेदारी से उस काम को निभा सकते हैं।

अपने व्यवसाय को रोटी का आज्ञापत्र ही नहीं मानना चाहिये

अपने व्यवसाय को रोटी की परमिट देने वाला टिकट ही मानना जीवन की भारी उम्मीदों में से एक है। केवल कुछ प्रतिभाशाली ही ऐसा नहीं मानते। किन्तु वे तो अपवाद हैं। ऐसे विरले आदमियों का पन्थ निराला ही है। साधारण व्यक्ति उनका अनुकरण नहीं कर सकते। इसीलिये व्यवसाय के नाम पर, व्यवसाय के समय वे अपनी रुचि से सर्वथा

विरुद्ध काम केवल रोटी की खातिर किया करते हैं। कुछ चित्रकार हैं जो सप्ताह के ६ दिन ऐसे चित्र बनाते रहते हैं जिन्हें देख कर वे भी लज्जित हों; और केवल अवकाश के समय इतवार को अपने मन के चित्र बनाते हैं। ऐसे कवि हैं जो आजीविकोपार्जन के लिये तो बेहूदा अश्लील फिल्मी गाने लिखते हैं और रात के अवकाश में स्वान्तःसुखाय ऊँचे गीतों की रचना करते हैं। ऐसे कलाकार कला से वैश्यावृत्ति करवाते हैं। इससे भी अधिक दुर्भाग्य यह है कि वे अपने व्यवसाय से, उस काम से जो उनको अन्न देता है, घृणा करते हैं। वे अपने से घृणा करने लगते हैं।

कोई भी व्यवसाय घृणित नहीं है

कोई भी काम स्वयं घृणित नहीं है। करने वाले की मनोवस्था ही घृणित या गौरवान्वित, ऊँचे या नीचे दर्जे का बनाती है। मन से न पढ़ाने वाले प्रोफेसर की अपेक्षा पूरे मन से सड़क पर झाड़ू देने वाला भंगी अधिक प्रतिष्ठित काम करता है। एक हलवाई की दूकान पर ऐसी स्वादिष्ट मिठाई बनाना, जिस पर दूकानदार अभिमान कर सके और जिसे गाहक सराहें, अधिक अच्छा है अपेक्षा उस अखबार में ऊँचे वेतन पर सम्पादक बनकर काम करने के जहाँ आपको अपनी आत्मा के विरुद्ध लिखना पड़ता हो और ऐसी बातों का प्रचार करना पड़ता हो जिन्हें आप मन से घृणा करते हैं।

अतः आजीविकोपार्जन के लिये व्यवसाय का चुनाव करते हुए आपको यह ध्यान कर लेना चाहिये कि कहीं आपको अपनी आत्मा के विरुद्ध आचरण तो नहीं करना होगा। व्यवसाय के साथ मनुष्य का २४ घण्टे का सम्पर्क रहता है। उसके व्यवसाय का चरित्र बनाने में बहुत बड़ा भाग है।

अपने काम में मनुष्य की इतनी दिलचस्पी होनी चाहिये कि वह
खेलखेल में सब काम कर सके। काम के
कामके समय खेल और समय काम और खेल के समय खेल का
खेल के समय काम मुहावरा गलत है। काम के समय खेल
और खेल के समय काम करने से ही खेल और
काम एक सदृश्य हो सकेंगे। काम से आनन्द की प्रतीति न हो तो वह छोड़ देना चाहिये। जीवन का बड़ा भाग निरानन्द काम में बिता देना सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। उपनिषद् के कथन में बड़ा सत्य है कि "आनन्द ही से विश्व बना है।"[1] वेतन के लिये काम करना फल की आकांक्षा से काम करना है परन्तु आनन्द की प्रेरणा से काम करना ही वह निष्काम कार्य है जिसका वर्णन गीता में है।

पत्नियों का व्यवसाय गृहस्थी का व्यवसाय है। उसी काम में उनका व्यक्तित्व बनता है। उसे काम न समझ कर स्कूल की अध्यापकी करने वाली पत्नियां बड़ी भूल करती हैं। अपने गृहस्थ के कामों में यदि उन्हें आनन्द नहीं आता तो वे गृहस्वामिनी होकर, पत्नी होकर पति को धोखा देती हैं, अपने को धोखा देती हैं, गृहस्थ की पवित्रता को कलंकित करती हैं। सचाई की मांग है कि वे गृहस्थ का कार्यभार छोड़ कर अध्यापिका ही बनें। इस परिवर्तन से उन्हें आनन्द मिलेगा और उन्हें जन्म भर पाखंड के कुचक्र में पिसना नहीं पड़ेगा।

घर के काम में ही पत्नी को आनन्द लेना चाहिये, यह कह देना जितना आसान है उतना आनन्द लेना आसान नहीं। बाहिर के काम-धन्धों की उन्नति बहुत जल्दी सामने आ जाती है। चार्ट या ग्राफ बनाकर आप अपने काम का परिमाण तुरन्त माप सकते हैं। घर में हानि-लाभ-हानि के तोलने का कोई इन्तज़ाम नहीं। बच्चे की मानसिक उन्नति हो रही है या नहीं, उसे साल भर में जुकाम कितनी बार हुआ,

1. आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।

कम हुआ या अधिक, इन्हीं बातों से गृहिणी का काम नापा जा सकता है किन्तु ये माप-दण्ड बड़े अस्पष्ट और बरसों बाद कुछ परिणाम दिखाने वाले हैं।

घर के काम में तरक्की भी नहीं मिलती। काम ज्यादा करो या कम गृहिणी वहीं की वहीं रहेगी। अच्छा या ज्यादा करने से उसको ना तो कोई ओहदा बड़ा मिल जायगा ना ही उसके बैंक की रक़म में वृद्धि होगी।

गृहकार्य में कठिनाइयां

घर के काम में समय की सीमा भी नहीं है। २४ घंटे का काम है। पत्नी २४ घंटे अपने कारखाने में रहती है। कोई परिवर्त्तन नहीं, विभिधता नहीं। उसे ऐसे विविध काम करने पड़ते हैं कि दिमाग़ चकरा जाय। उसका काम यन्त्रवत काम करना नहीं। सब काम अपनी अक्ल से संवार कर करना पड़ता है।

घर के काम का कोई चमकता भविष्य भी नज़र नहीं आता। उस काम से पत्नी का भविष्य क्या बनता है? कुछ भी नहीं। ४५ वर्ष की उम्र तक पति तो अपनी सफलता के मद में झूमता नज़र आता है और पत्नी का व्यक्तित्व मुरझा कर समाप्त हो जाता है।

इतनी कठिनाइयों के होते हुए भी पत्नी को अपना काम दिल-चस्पी से करना चाहिये। क्योंकि काम का आनन्द काम के परिणाम में नहीं, काम करने में ही है। प्रेम-प्रेरित कर्म का फल प्रेम के सिवाय कुछ नहीं होता।

"मैं बच्चों के लिये जी रही हूं" यह कहना ही बुरा नहीं है बल्कि ऐसी मनःस्थिति भी गहरे असन्तोष को जतलाने वाली और अस्वास्थ्यकर है। घर का तानाबाना प्रेम से बुना जाता है, बलिदान से नहीं। घर सुन्दर फूलों का बगीचा है, कांटों की सेज नहीं है। जहां वह कांटों की सेज है वहां वह घर के सब सदस्यों के लिये है। जब प्रेम न हो तो फूल भी कांटे बन जाते हैं। प्रेम हो तो कांटों की झाड़ियां ही कुञ्ज-

घर फूलों की सेज है, कांटों की झाड़ी नहीं।

शय्या का काम देती है। जिसके लिये केवल बलिदान किया जाता है, प्रेमहीन कर्म किया जाता है, उसे मन ही मन आप घृणा करते हैं। अन्यथा अपने काम को आप कभी बलिदान न कहें। ऐसे बलिदान-प्रेरित गृहकर्म की अपेक्षा उस कर्म का त्याग ही श्रेष्ठ है क्योंकि अनमने दिल से घर का काम करने से न केवल आप अपना जीवन बरबाद करती हैं बल्कि अपनी सन्तान का भविष्य भी बिगाड़ती हैं।

पत्नियों को पति के व्यवसाय के सम्बन्ध में कैसी मनःस्थिति रखनी चाहिये, इस प्रश्न पर भी दो शब्द कह देना उचित होगा। अभी तक समाज की व्यवस्था जैसी है उसमें पति की आजीविका ही ऐसा केन्द्र-बिन्दु है जिसके इर्द-गिर्द पारिवारिक जीवन का गोल बनता है। अर्थात् कमाई थोड़ी हो या अधिक, वह कमाई ही घर का आधार होती है। जहां पत्नियां स्वयं कमाई करने लगती हैं वहां भी यही बात सच है। उनकी कमाई से घर के खर्च चलाने की बात अभी हमारे मन को जचती नहीं। इन्हें पुराने संस्कार कहिये या पुरुष की प्रभुता-प्रियता। आज तक दुनिया के हर हिस्से में यही प्रथा प्रचलित है। और ये संस्कार इतने गहरे जा चुके हैं कि उन्हें तर्क की नोक से इतनी जल्दी बाहर निकाल फैंका नहीं जा सकता। जबतक ये संस्कार हैं तबतक पत्नी का यही कर्तव्य है कि वह पति के व्यवसाय को ही घर की नींव माने। पति को ही घर का स्वामी मानकर उसकी प्रभुता को पनपने दे, उसे उत्साह दे, उसके व्यवसाय को घर के लिये अभिमान का कारण समझे। साधारणतया पुरुष को अपने व्यवसाय से प्रेम होता है। स्त्री को उसके व्यवसाय के प्रति आदर भाव दिखाना चाहिये। यदि वह लेखक है तो उसकी पुस्तकों को कूड़ा-करकट समझ कर अंगीठी जलाने के काम नहीं लाना चाहिये; वह चित्रकार है तो उसके रंगों को हिक़ारत से नहीं देखना चाहिये। उसकी कमाई को 'थोड़ा' या 'बेकार' कह कर उसके दिल पर चोट नहीं पहुंचानी चाहिये।

इसी तरह पति को पत्नी के कार्य का सम्मान करना चाहिये। इस परस्पर सम्मान से ही प्रेम बढ़ता है।

धन का चरित्र पर प्रभाव

आज के युग में मनुष्य के व्यक्तित्व में धन का बहुत बड़ा हाथ माना जाता है। धन की शक्ति अन्य शारीरिक, मानसिक व आत्मिक शक्तियों से अधिक महान् मानी जाती है।

धन स्वयं ना अच्छा है ना बुरा यह अर्थ-युग का अभिशाप है। धन-संग्रह को सुखी जीवन का एक उपकरण मात्र समझने के स्थान पर लोग इसे ही ध्येय मान बैठते हैं। धन ही उनका देवता हो गया है और धन ही उनका निर्वाण। व्यवसाय-युग ने ही मनुष्य का यह दृष्टिकोण बना दिया है। युग की कुछ बुराइयां हैं, कुछ भलाइयां। हमारा जीवन दोनों से ओतप्रोत है। इन्हीं विषम घाटियों के बीच में से हमें गुज़रना है। धन की भलाई-बुराई उसके उपयोग करने वाले की मनःस्थिति पर निर्भर करती है। इसका उपयोग रचनात्मक व विनाशात्मक दोनों कार्यों में हो सकता है। सदुपयोग से यह सबसे बड़ा वरदान और दुरुपयोग से यह अधमतम अभिशाप बन जाता है।

'धन' एक अपेक्षिक शब्द है

धन का दुरुपयोग या विनाशात्मक उपयोग प्रायः वहीं होता है जहां यह आवश्यकता से अधिक हो। धन के क्षेत्र में अधिक शब्द भी बड़ा अस्पष्ट-सा शब्द है। इसकी ठीक ठीक व्याख्या नहीं की जा सकती। आपके दस रुपये उतनी ही चीजें खरीद सकते हैं जितने मेरे दस रुपये इसलिये उन दस रुपयों का विनिमय मूल्य एकसा है। किन्तु संभव है आपके दस रुपयों का मूल्य आपके लिये उतना न हो जितना मेरे दस रुपयों का मूल्य मेरे लिये है। आपके दस रुपये आपको किसी बढ़िया होटल में एक समय का खाना खिला सकते हों किन्तु

मेरे दस रुपये मुझ अकेले के लिये ही नहीं, मेरे परिवार के लिये भी सप्ताह भर का राशन दे सकते हों।

दो हज़ार रुपया प्रतिवर्ष खर्चने वाले लोग बीस हजार सालाना खर्च करने वालों को फिजूल-खर्च और अय्याश समझते हैं और बीस हज़ार वाले दो हज़ार वालों को दरिद्र व असहाय समझते हैं। यह कशमकश सदियों से चली आई, और जारी रहेगी। इस विषमता को दूर करने के उपाय सुझाना इस पुस्तक का ध्येय नहीं है। मैं तो केवल ऐसे सुझाव रखने की कोशिश करूंगा जिनकी सहायता से आप अपने उपार्जित धन का मूल्य बढ़ा सकते हैं। यदि आप ऐसा कर सकेंगे तो आपको धन की कमी कंगाल नहीं बनायगी और धन की प्रचुरता दुश्चरित नहीं बनायगी। चरित्रवान् व्यक्ति थोड़े धन में भी समृद्ध हो सकता है।

व्यय की व्यवस्था कीजिये

व्यवस्था का अभिप्राय पाई-पाई के हिसाब से या रोकड़ लिखने अथवा बही-खाते बनाने से नहीं है। दो पैसे का रोकड़ा मिलाने के लिये सारी रात जागकर दो आने का तेल खर्च करना मूर्खता की पराकाष्ठा है। भागीदारी के व्यापार में ऐसा करना शायद कुछ अर्थ रखता हो किन्तु घर के या एक व्यक्ति के रोज़नामचे में ऐसा हिसाब एक सनक के सिवा कुछ नहीं। व्यवस्था से अभिप्राय केवल यह है कि हमें अपनी आमदनी को देखते हुए अपने खर्चों की योजना बना लेनी चाहिये। आमदनी दो हज़ार हो तो खर्च दो हज़ार से कुछ कम होना उचित है। जिसका व्यय आय से कम होगा वह सदा अमीर रहेगा। किन्तु व्यय की यह कमी आय से बहुत कम नहीं होनी चाहिये। अपनी आय को देखकर ही हमें अपने घर का, घर की सजावट का, अपने वस्त्रों का और बच्चों की शिक्षा का दर्जा निश्चित करना है। एक बार इनका निश्चय कर लीजिये। और फिर जबतक आपकी आय में कमीबेशी न

हो उसी में सन्तुष्ट जीवन बिताइये। बार-बार उसमें हेर-फेर करने या दूसरों को देख कर आह भरने की आदत छोड़ दीजिये। अपने जीवन को व्यवस्थित करने की यह स्वर्णीम योजना है।

एक बात का ध्यान रखिये। यदि आपकी आमदनी में २०० रुपये की वृद्धि होती है तो आप सभी मदों में तरक्की नहीं कर सकते। आमदनी बढ़ते ही सब ओर फैलना शुरु मत कीजिये। यदि आप अपने रहन-सहन से सन्तुष्ट हैं तो उसे वैसा ही रहने दीजिये। इस अचानक आये धन को अचानक आपत्ति से बचने के लिये सुरक्षित रख लीजिये। इस तरह सुरक्षित रखा हुआ धन आपको जितना सन्तोष देगा उतना उसके खर्च करने से पाया हुआ क्षणिक आनन्द नहीं देगा। इस रक़म को ऐसे मद में रख दीजिये जहां वह देर तक अछूता रह सके। लक्ष्मी बड़ी चंचल होती है। भाग्याकाश में अचानक चमके तारे के प्रकाश में जीवन-यात्रा पूरी नहीं हो सकती। लक्ष्मी का सम्मान करना चाहिये। मितव्ययता में ही उसका सम्मान है। अति व्यय करना उसका अपमान करना है।

अपना चुनाव आप कीजिये

आवश्यक और अनावश्यक व्यय की मदों का निश्चय करना व्यक्तिगत चुनाव पर निर्भर करता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रुचि के अनुसार इसका निश्चय करने का अधिकार है। किसी दूसरे का इसमें दखल नहीं है। पड़ोसी के चुनाव को अनावश्यक फिजूलखर्ची कहना और अपने चुनाव को आवश्यक व्यय कहना मनुष्य की ईर्ष्यालु मनोवृत्ति को प्रगट करता है। हमारा मकान बनाने में हज़ारों रुपया खर्च कर देना दूरदर्शिता है, और दूसरे का उतने ही धन में मोटर रखना या घर की सजावट का फर्नीचर खरीदना अपव्यय है—यह तर्क सच्चा नहीं है। कुछ लोग मोटर से भी व्यापारिक लाभ उठा लेते हैं और कुछ मकान बनाकर भी रुपये को मिट्टी कर देते हैं और गरीबी में ही बोझ

ज़िन्दगी गुजारते हैं। आवश्यक व्यय से अतिरिक्त धन को खर्च करने में पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। तुलना करना बहुत बुरी आदत है। अपनी रुचि के अनुसार उसे खर्च करना चाहिये।

हां एक बात का ध्यान रखना चाहिये। हम अपनी रुचि के अनुसार ही खर्च करें, पड़ोसियों की रुचि के अनुसार नहीं। अपव्यय प्रायः दूसरों की नजरों में अमीर बनने के लिये ही होता है, आत्मतुष्टि के लिये नहीं। यह बुरा है, चरित्र की निर्बलता का चिन्ह है। दूसरों को जलाने के लिये हम जिस धन की होली खेलते हैं उससे हमारा भविष्य भी जलता है। अपने आराम के लिये, सामाजिक परितोष के लिये ही हमें धन का व्यय करना चाहिये। किन्तु होता इससे विपरीत है। बड़े-बड़े दूकानदार या विज्ञापनदाता इससे लाभ उठाते हैं। इश्तहारबाजी से वे जो फैशन प्रचलित कर देते हैं, हर अमीर को उसका गुलाम बनना पड़ता है। बड़े घरों की औरतें इश्तहार देखकर ही अपनी रुचि बनाती हैं। जिस चीज का रिवाज चल गया उसे खरीदना हर अमीर का धर्म हो जाता है। यह कोई नहीं देखता कि कौनसा साबुन उसकी त्वचा के अनुकूल होगा; जिस साबुन का रिवाज होगा वही खरीदा जायगा। पुस्तकें पढ़ने की फ़ुरसत न होने पर भी अमीर लोग हज़ारों की पुस्तकें खरीदकर लायब्रेरी बना लेंगे। मोटर के नये से नये माडल खरीदे जायेंगे। मध्य स्थिति के लोग भी इस प्रतियोगिता की आग में अपनी मेहनत की कमाई झोंकने लगते हैं। अनुकरण करने का यह रोग जिसे लग गया वह अपने धन को सस्ता बना लेगा। इसलिये कल्याण इसी में है कि आप केवल अपनी रुचि को देखकर ही यह निश्चय करें कि आप कौनसी वस्तु पहले और कौनसी बाद में खरीदना चाहते हैं। यह [illegible] आपका दिल ही जानता है कि आप अपनी वेशभूषा में २०० रुपया फालतू लगाना पसन्द करेंगे या पर्वतयात्रा में व्यय करना; ग्रामोफ़ोन के नये रिकार्ड लायेंगे या किसी पत्रिका के नये ग्राहक

बनेंगे। अपना चुनाव स्वयं कीजिये और दूसरों को उनका चुनाव करने दीजिये, उनसे ईर्ष्या न कीजिये, क्योंकि यदि आप भी चाहते तो वही वस्तु ले सकते थे। आपने अपनी इच्छा से इस वस्तु का त्याग किया है।

स्वयं किसी को धन से मत परखिये

जो लोग अपनी 'हैसियत' के लिये खर्च करते हैं वे अपने दम्भ व पाखंड के लिये करते हैं। जिस हैसियत की इमारत को पैसे की लीपापोती से खड़ा किया जायगा, वह आज नहीं तो कल गिर जायगी। ऐसी थोथी हैसियत से बे-हैसियत होना अच्छा है। दूसरों की नज़रों में हैसियतदार दिखलाई देने के लिये धन का अपव्यय करना नितान्त मूर्खता है। आपकी इज्जत आपके चरित्र में हैं, उस धन में नहीं जिसका तोल-माप दूसरे लोग करते हैं। इस सम्बन्ध में एक बात याद रखिये। जिस दिन से आप दूसरों की हैसियत का माप उनके पैसे से करना बन्द कर देंगे उसी दिन से दूसरे लोग भी आपकी इज्जत को चांदी के बट्टों में तोलना बन्द कर देंगे।

दूसरे को तोलते हुए हम स्वयं तुल जाते हैं

जिस तराज़ू पर आप दूसरों को तोलते हैं उसी पर दूसरे आपको तोलते हैं। सच तो यह है कि दूसरों को तोलते हुए आप स्वयं तुल जाते हैं। दूसरों की अमीरी का पर्दा उठाने के साथ आपकी गरीबी पहले नंगी हो जाती है। कुछ लोग अपने मित्रों से मिलने पर भी उनके अमीर-गरीब होने या कामकाज के भले-बुरे होने की जांचपड़ताल शुरू कर देते हैं। वे प्रायः सहानुभूति के भाव से नहीं, तुलना के भाव से ही करते हैं। मित्र के मुख से उसकी मन्दी की बात सुनकर उन्हें हार्दिक आल्हाद होता है। शिष्ट व्यक्ति इस पूछताछ में नहीं पड़ते। औरतों में भी सभ्य औरतें वही हैं जिनकी नज़र सामने वाली के जेवरों पर या साड़ी-ब्लाउज़ों पर नहीं

जाती। जेवरों का चलन दूसरे की नजरों में अमीर दिखाई देने के लिये ही हुआ है। साधारणतया ज़ेवरों से ही औरत की क़ीमत मापी जाती है। अन्दर से जो जितनी हल्की होगी उतने ही भारी ज़ेवर पहनेगी। सौन्दर्य-सज्जा के लिये जो स्त्रियां हल्के, कलापूर्ण आभूषण पहिनती हैं वे सुन्दर बनने की स्वाभाविक इच्छा पूरी करती हैं। किन्तु सोने की जंजीरों से गला घोटने की कोशिश करने वाली स्त्रियां प्रायः नैराश्यपीड़ित और प्रेम-तिरस्कृता होती हैं। सोने-चांदी के झिलमिल प्रकाश में ही वे अपने अंधेरे जीवन का सहारा ढूंढती हैं। उनसे ईर्ष्या नहीं, सहानुभूति होनी चाहिए।

आय का सदुपयोग कीजिये

आपको अपनी आमदनी में से कितना बचाना चाहिये? मैं कुछ भी नहीं कह सकता। सब की परिस्थितियां जुदा-जुदा हैं। अमीर के बेटे को उतना बचाने की जरूरत नहीं जितना साधारण स्थिति के आदमी को। अपनी स्थिति को देखते हुए सब को कुछ-न-कुछ अवश्य बचाना चाहिये। बचत की मात्रा का निश्चय सब लोग स्वयं कर सकते हैं, कोई दूसरा सलाह नहीं दे सकता।

बचत का सदुपयोग कैसे हो?

कौन कितनी बचत करता है, यह प्रश्न उतना विचारणीय नहीं, जितना यह कि बचत का सदुपयोग किस तरह किया जा सकता है? स्मरण रहे कि पहली बचत सब से कठिन होती है। एक बार बचत करने का निश्चय करके जो कुछ बचे उसे ऐसी जगह लगा देना चाहिये जहां से उसे निकाला न जा सके। उस बचत को व्यापार में या सट्टे में लगाकर बढ़ाने की आशा करना मृगतृष्णा है। मैं मध्यमस्थिति के ऐसे सैंकड़ों व्यक्तियों को जानता हूँ जो अपनी बचत को सट्टाबाज़ार में लगा देते हैं। उनका यह मुहावरा कि "माया को माया मिले कर कर लम्बे हाथ" उनकी [illegible] के थोड़े से रुपयों पर चरितार्थ नहीं होता। 'बचत' की कौड़ी-सी

रक़म उनके लिये भले बड़ी महत्त्वपूर्ण 'माया' हो, माया वालों के सामने उसकी कोई क़ीमत नहीं।

बचत का उपयोग परिवार की सुरक्षा में होना चाहिये। सुरक्षा का साधन यह नहीं है कि बैंक की कापी में संख्यावृद्धि हो जाय। सच्ची सुरक्षा बच्चों को ऊंची शिक्षा देने और उन्हें योग्य बनाने में है। बच्चों को स्वावलम्बी, साहसी, दृढ़व्रती बनाने में खर्च करना, सरकारी दस्तावेज़ ख़रीदने में रक़म खर्च करने से अधिक सुरक्षित है। सब दानों से बड़ा दान ब्रह्मदान, ज्ञानदान है[1]। वसीयत में दिया हुआ धन बहुत बार बच्चों को प्रमादी बना देता है। सच्चा धन शिक्षा ही है। जो कुछ है सब बच्चों की शिक्षा पर खर्च कर दीजिये। वसीयत में देने के लिये एक पाई भी न बचे तो परवाह नहीं, किन्तु बच्चों की शिक्षा पूरी होनी चाहिये। बचत का सर्वश्रेष्ठ उपयोग बच्चों को शिक्षा देने में खर्च करना है। शिक्षा अक्षरअभ्यास का नाम नहीं है। शिक्षा वह है जो बच्चे के चरित्र को सबल बनाये, जो उसे जीवन-संग्राम में सफलता से जूझना सिखाये। यह चरित्र ही आत्मबल है जो बुद्धिबल से भी ऊंचा है।

श्रद्धा और चरित्र

प्रेम जब शारीरिक क्षेत्र से ऊपर आत्मिक क्षेत्र में आ जाता है तो उसे श्रद्धा कहते हैं। तर्क से या बुद्धि से जब हम ईश्वर की अनन्त शक्तियों की थाह नहीं ले पाते तो अपने आपकयन्त्र को समुद्र में फेंक देते हैं, लहरों में अपनी नाव को छोड़ देते हैं, हवा का रुख हमें अपनी इच्छा से जिधर चाहे ले जाता है। तब हम अनुभव करते हैं कि हम व्यर्थ ही इन लहरों से लड़ रहे थे। ये लहरें हमें झुलाती हैं, कभी ऊपर, कभी नीचे। हिलोरों में जो आनन्द आता है वही जीवन का आनन्द है। तब हमें याद आता है कि समुद्र की छाती चीर कर पार आने का हम व्यर्थ ही प्रयत्न कर रहे थे।

---

[1] सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।

श्रद्धामय जीवन व्यतीत करने वाले को तर्क के चप्पुओं का प्रयास व्यर्थ लगने लगता है। जिस नाव के चप्पू ईश्वर के हाथ में हों उसे किसका भय ? वह ईश्वर उस नाव को पार करता है। भय तो उसी को होता है जो अपने कमजोर हाथों पर भरोसा रखता हो। सर्व-शक्तिमान् का आंचल पकड़ते ही मनुष्य निर्भय हो जाता है। उसके स्पर्श से ही मनुष्य में अजेय बल आ जाता है। उसके व्यक्तित्व में ईश्वर का प्रकाश भर जाता है। उसका चरित्र सब दिव्य गुणों से पूर्ण हो जाता है। इसलिये चरित्र-निर्माण की कोई भी योजना ईश्वर-विश्वास के बिना पूरी नहीं हो सकती। एक ओर दुनिया की सब ताकतें हों और दूसरी ओर ईश्वर की एक कृपा हो तो दूसरा पक्ष ही विजयी होगा ? कुछ लोग इसे दैव भी कहते हैं। दैव कहिये या भाग्य, अभिप्राय ईश्वर-कृपा से ही है। उसकी कृपा पर अटल विश्वास रखना ही श्रद्धा हो।

भगवान को जीवन-रथ का सारथी बनाओ

भगवान कृष्ण के पास कौरव और पांडव जब एक साथ ही पहुँचे तो भगवान् ने उन दोनों के सामने यह चुनाव रख दिया "एक के पक्षमें उनकी समस्त शस्त्र-सज्जित सेना होगी, दूसरे के पक्ष में वह निरस्त्र रहेंगे"। दुर्योधन ने उनकी सज्जित सेना को लेना पसन्द किया, अकेले कृष्ण पाण्डवों के पक्ष में आये। इतिहास साक्षी है कि दुर्योधन ने भूल की थी। अकेले भगवान् अपनी समस्त सेना से अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुए। बिना लड़े केवल अर्जुन के रथ के सारथी बन कर ही उन्होंने पाण्डवों को जिता दिया।

'दुर्योधन ने भूल की थी', आज हम सब यही कहते हैं, किन्तु हम भी अपने जीवन में पगपग पर यही भूल करते हैं। ईश्वर की उपेक्षा करके हम संसारी शक्तियों के सैन्य-बल पर जीवन में विजय पाना चाहते हैं। किन्तु विजय उन्हीं को मिलती है जो सब को छोड़ केवल

ईश्वर को अपने रथ का सारथि बनाते हैं।

जो विराट् ईश्वर, विश्व के असीम-अनन्त आकाश में भी पूरा नहीं समा पाता, उससे भी बड़ा है, वही हमारे अंगुष्ठ मात्र हृदय में सिमट कर बैठा है। वह अपनी इच्छा से हमारी आत्मा में आत्म-रूप होकर प्रविष्ट हुआ है।[1] वहीं हमारे अन्धकारमय हृदय की ज्योति है।[2] फिर भी हम उसको अपने पक्ष में न लेकर संसारी उपकरणों पर भरोसा करने लगते हैं। यह भूल हमें जीवन में परास्त कर देती हैं। क़दम क़दम पर हम ठोकरें खाते हैं। छोटी २ असफलता हमारे मन को झकझोर डालती है। अपने मन से हम हवाई किले बनाते हैं। स्वप्नों का ताना बाना बुनते हैं। कल्पना के पंखों पर बैठकर दुनिया के ओर-छोर को छूने के लिये उड़ान भरते हैं। किन्तु कल्पनाओं का यह कुहरा जीवन की सचाईयों के प्रकाश में बहुत जल्दी छिन्न-भिन्न हो जाता है। स्वप्नों का तानाबाना हवा के एक ही झोंके में टूट जाता है। कारण, कि अपने स्वप्नों और अपनी कल्पनाओं का महल बनाने से पहले हम इन स्वप्नों के मालिक का आशीर्वाद लेना भूल जाते हैं। हम संसारी शक्तियों के भरोसे अपना महल खड़ा करने का निश्चय करते हैं किन्तु उन शक्तियों के स्वामी की चरण-धूलि लेना भूल जाते हैं। चरण-धूलि क्यों? वह तो हमारे हृदय में ही बैठा है। उसका नाम लेना अलग, उसका स्मरण तक करना भूल जाते हैं।

भगवान ने अर्जुन को आदेश दिया था 'तू मेरा नाम लेकर युद्ध में जूझ जा'[3] यही आदेश ईश्वर का वह आदेश है जो वह मनुष्यमात्र को देता है। ईश्वर का नाम लेकर जीवन-युद्ध में जूझने वालों को कभी

---

१. आत्मनात्मानमभिसंविवेश ततसृष्ट्वा तदेवानुप्रविशत्।

२. ज्योतिरात्मनिनान्यत्र सर्वं जन्तुषुतत्समम—महाभारत

३. तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च।

निराशा नहीं होती, हार नहीं होती।[१] सुख-दुःख, लाभालाभ, जय-पराजय सबके लिये उनका ईश्वर ही ज़िम्मेदार होता है। इस युद्ध के पाप-पुण्य में भी वे लिप्त नहीं होते; ना वह सुख में फूलकर कुप्पा होते हैं और ना ही दुख में डूबकर निश्चेष्ट हो जाते हैं[२]। उनकी हर सांस से यह आवाज़ निकलती है "ईश्वर ! तेरी इच्छा पूर्ण हो !"

"ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो !" जीवन का यही गुरु-मन्त्र है।

ईसामसीह के हाथों में जब मेख ठोकी जाती थी तो हथौड़े की हर चोट पर उनके मुख से आह निकलने के स्थान पर यही शब्द निकलते थे "ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो !" हत्यारे के हाथों से विष खाकर स्वामी दयानन्द ने प्राण छोड़ते हुए यही शब्द कहे थे, "ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो !" छाती पर गोली खाकर अन्तिम श्वास के साथ महात्मा गांधी के मुख से यही शब्द निकला था 'हे राम ! तेरी इच्छा पूर्ण हो !

मृत्यु के समय हम राम की गोद में विश्राम लेना चाहते हैं, जीवन में भी यदि हम अपने को राम के हाथ सौंप सकें तो हमारा जीवन कितना ऊँचा हो जाय। भगवान् तो कहते हैं कि मुझे ही सब कर्म अकर्म अर्पित करदे। मेरा भक्त बन जा।[३] मैं तेरे सारे दुखों को दूर कर दूंगा[४]। किन्तु हम अहंकारवश अपने निर्बल कन्धों पर ही अपना भार उठाये फिरते हैं। अपना ही नहीं, हम तो दुनिया भर का भार उठाने का दम भरते हैं। अपनी ही चिन्ता से हमें अवकाश नहीं मिलता, विश्व भर की चिन्ता का ढोंग करके हम आत्मचिन्तन

---

१. कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

२. सुख दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥

३. मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ॥

४. अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥—गीता ।

के स्वार्थमूलक पाप को छिपाने का यत्न करते हैं।

ईश्वर के हाथ जीवन की बागडोर देकर जो निश्चिन्त हो जाते हैं वे ईश्वर के मार्ग पर आगे ही आगे बढ़ते जाते हैं। अर्जुन ने अपना रथ भगवान् के हाथ में दे दिया था। हम भी अपना रथ भगवान् के हाथ देकर जीवन की यात्रा पूरी कर सकते हैं। यह यात्रा विजय की यात्रा है। हम ईश्वर के वरद्-पुत्र अपने पिता के नेतृत्व में आगे बढ़ रहे हैं। हमें भय और चिन्ता क्या? हमारी प्रकृति, हमारा स्वभाव, हमारा चरित्र वही है जो ईश्वर का चरित्र है। ज्योतिर्मय भगवान् के रास्ते पर चलते हुए हम अन्धकार में भटक जाएं तो दोष किसका? परम शक्ति के पुत्र होते हुए भी हम अपने को नाचीज़, पतित बनालें तो हम से बड़ा मूर्ख कौन होगा?

हमारा चरित्रनिर्माण वह स्वयं करता है। पिता अपनी आत्मा से अपने पुत्र का चरित्र बनाता है। वह स्वयं हमारी आत्मा बनकर हमारे अन्दर रहता है[1]। उसके सबल हाथों में आशा के अगणित दीप जल रहे हैं, उन दीपों में अटल विश्वास की लौ जल रही है। प्रलय भी उन सदा-जलते दीपों को नहीं बुझा सकती।

आशा के अगणित दीप हमारा पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं

ईश्वर-विश्वासी को दुश्चरित्र होने का भय कहां? अस्थिर भोगों की आग में वही जलता है जिसे स्थिर आनन्द की आशा नहीं होती; जो यह समझता है कि जवानी आज है, कल नहीं; जिसे यह विश्वास नहीं होता कि आज का डूबा सूरज कल निकलेगा। जो ईश्वर की अमरता पर विश्वास रखेगा वह अपनी अमरता पर, अपने यौवन की अमरता पर भी आस्था रखेगा। वह अपनी भोगशक्ति को मर्यादा में रखकर अक्षय-यौवन का आनन्द उठायगा। भविष्य पर विश्वास न

---

१. जीवो ब्रह्मैव नापर।

रखने वाला संशयात्मा ही दुश्चरित्र होता है। वह बुझने से पहले टिमटिमाते दीपक की तरह अन्तिम बार भभक कर बुझ जाता है। इस क्षणिक भभक को ही वह भोग का आनन्द समझता है।

सत्य ही ईश्वर है; ईश्वर-विश्वासी ही सत्यनिष्ठ होता है।

ईश्वरविश्वासी को सत्य पर अटल रहने के उपदेशों की आवश्यकता नहीं। ईश्वरप्रेमी स्वतः सत्यनिष्ठ हो जाता है। ईश्वर के नियम त्रिकाल में सत्य हैं। इन सत्य नियमों पर ही पृथ्वी और आकाश स्थित हैं। सत्य ईश्वर का प्रथम गुण है। तभी उसे सच्चिदानन्द कहते हैं। सत्य ही ईश्वर है। ईश्वर की निष्ठा ही सत्यनिष्ठता है।

मनुष्य स्वभाव से सत्यनिष्ठ होता है। भय, कामना और अहंकार के वश वह धूर्त और छली व कपटी बन जाता है। श्रद्धानिष्ठ व्यक्ति भय, काम, क्रोध आदि पर विजय पा लेता है। उसके मन-वचन-कर्म सब निर्मल हो जाते हैं। निर्भय व्यक्ति को असत्य के झूठे परदे में अपने पापों के छिपाने की ज़रूरत ही नहीं रहती। मन के मानसरोवर में ईश्वर की छाया तभी प्रतिबिम्बित होती है जब उसका जल दर्पण की तरह निर्मल और ठहरे हुए पानी की तरह स्थिर हो।

कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म का रहस्य

श्रद्धावान् को प्रशान्त रहने के लिये उपदेश की आवश्यकता नहीं। ईश्वर का प्रेम उसके मन को इतना तृप्त कर देता है कि आत्मा की तृप्ति के लिये उसे बाह्य उपकरणों का आश्रय नहीं लेना पड़ता। जिस तरह नदी का जल स्वयं सागर की ओर जाता है, उसी तरह संसार के भोग स्वयं ईश्वर प्रेम से परितृप्त व्यक्ति में प्रवेश करते हैं। सब कर्मों को ईश्वर में अर्पित करने के बाद फलाफल की चिन्ता से शून्य मनुष्य का मन कभी अशान्त होता ही नहीं। वह स्वयं संयत और जितात्मा बन जाता है। वह कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है। अर्थात् अपने

कर्मों में भी वह स्वयं अकर्मण्य ही रहता है। स्वयं कुछ नहीं करता।* उसका भगवान् ही उससे सब कर्म करवाता है। कर्मों के श्रेयाश्रेय भगवान् के ही ज़िम्मे हो जाते हैं। इसी तरह उसके निष्कर्म में भी भगवान् का ही कर्म निहित होता है। वह स्वयं निष्कर्म मालूम होता है किन्तु उस निष्कर्मण्यता में भी भगवान् का ही कर्म होता है। सर्वथा निष्कर्म तो पुरुष होता ही नहीं। प्रसुप्ति में भी उसके हृदय का स्पन्दन चालू रहता है और नाड़ी की गति एक क्षण के लिये भी नहीं रुकती। ईश्वर प्रेमी के अन्य कार्य भी हृदय के प्रकम्पन की तरह सदा ईश्वरीय-प्रेरणा से स्वयं होते रहते हैं। अहंवादी के कर्म-अकर्म दोनों ही भीषण अशान्ति के सूचक होते हैं। अपने कर्म करते हुए वह इतना अहंकारी हो जाता है कि आस्मान सिर पर उठा लेता है और अकर्म में वह इतना बेजान सा हो जाता कि मुर्दे की याद दिलाता है। ईश्वर प्रेमी व्यक्ति कर्म-अकर्म दोनों में सदा एकरस रहता है।

उसके कामों में गम्भीरता, स्थिरता और उसकी आत्मा में अविचल शान्ति आजाती है। उसकी पलकें प्रभुप्रेम से भारी हो जाती हैं, उसका मन प्रेम के फूलों से भर कर विनम्र हो जाता है। आकांक्षाओं की आंधियां उस परमशान्ति को भंग करने के लिये नहीं उठतीं, क्योंकि उसकी कामनायें प्रभु के अर्पण हो चुकी होती हैं।

आत्म-निरीक्षण

हमारी आत्मा ही हमारे चरित्र का दर्पण है

दूसरों के गुण-दोषविवेचन में मनुष्य जितना समय खर्च करता है, उसका एक प्रतिशत भी यदि आत्मनिरीक्षण में लगाये तो आदर्श मनुष्य बन जाय। दूसरे के दोष आंख से दिख जाते हैं, अपने दोषों का चिन्तन मन को एकान्त में स्वयं करना पड़ता है। शरीर का दर्पण तो वैज्ञानिकों ने बना लिया है, चरित्र का दर्पण अभी तक कोई नहीं बना और न बनेगा।

---

*कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः॥

जो छिद्रान्वेषण करता है वह प्रायः छिपकर करता है। पीठ पीछे सब एक-दूसरे को भला-बुरा कह लेते हैं, निन्दा कर लेते हैं। हमारी बातचीत का विषय ही प्रायः परनिन्दा हुआ करता है। मित्रों की गोष्ठी हो या सार्वजनिक मेलजोल हो, ग़ैरहाज़िर लोगों की फब्तियां उड़ाने में ही सब लोग दिलचस्पी लेते हैं। सामने-सामने सब शहद सा मीठा बन जाते हैं। दिल से जो जितना कड़ुआ होगा, बातों में उतनी ही मिसरी घोलकर मिलायगा। पीठ पीछे छुरी फेरने वाला सामने आकर भक्तप्रवर बन जायगा, हितचिन्तक बन जायगा और इतने प्रशंसात्मक शब्दों में आपकी स्तुति करेगा कि 'अमर कोश' का कोई भी स्तुतिवाची पर्याय शब्द नहीं छोड़ेगा। वह प्रशंसा आपको सदा आत्मनिरीक्षण से रोकेगी। मनुष्य-चरित्र की यह सबसे बड़ी कमज़ोरी है कि वह अपनी प्रशंसा का सदा भूखा रहता है। अन्तिम सांस तक भी मनुष्य की यह भूख नहीं जाती। इसीलिये हमारा सब कुछ झूठ से भरा होता है। छल-कपट से हमें प्रेम हो जाता है। सचाई कड़वी होती है। ना उसे कोई कहता है, ना सुनता है। पीठ पीछे ही वह कही-सुनी जाती है। इसलिये सत्य-शोधकों को पीठ पीछे की सच्ची बातें सुनने के लिये वेष बदलना पड़ता है।

पिछले ज़माने के राजा वेष बदल कर ही सच्चे लोकमत की जांच किया करते थे। आजकल गुप्तचरों द्वारा यह काम होता है। व्यक्तिगत जीवन में भी यदि कोई गुप्तरूप से अपनी चर्चा सुनने का यत्न करे तो अपने दोषों को जान सकता है। किन्तु वह चर्चा भी प्रायः अतिरंजित और पक्षपातपूर्ण होती है। सचाई तो वही है जो मनुष्य के अन्तःकरण में छिपी है। अपना गुप्तचर आप बन कर ही हम उसका अनुसन्धान कर सकते हैं। यह आत्मपरीक्षा ही हमें हमारे चरित्र के असली स्वरूप को हमारे सामने प्रगट करेगी और तभी हम चरित्र में सुधार कर सकेंगे—चरित्र-निर्माण कर सकेंगे।

यदि हम अपने चरित्र को उज्ज्वल बनाना चाहते हैं तो तो कैसे

पूर्व या सोकर उठने के बाद एकान्त में हमें प्रतिदिन आत्मनिरीक्षण करना चाहिये। चरित्र-सम्बन्धी किसी भी गुण का मन में ध्यान करके उस कसौटी पर अपने व्यवहारों को परखने की कोशिश की जाये। हमारे व्यवहार ही हमारे चरित्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। विचारों में तो सभी आदर्शवादी होते हैं। योग्य-अयोग्य का ज्ञान या पुण्य-पाप की अनुभूति तो मूर्ख और पापी को भी होती है। किन्तु व्यावहारिक जीवन में हम उन आदर्शों को भूल जाते हैं। धर्म को जानते हुए भी उसमें प्रवृत्त नहीं होते और अधर्म को जानते हुए भी उससे निवृत्त नहीं होते। दुर्योधन ने यही बात भगवान् कृष्ण को तब कही थी जब वे शान्ति दूत बनकर गये थे। हम यही बात रोज़ अपने से कहते हैं। हमारा ज्ञान हमारी प्रवृत्तियों का पथप्रदर्शन नहीं करता। हमारी प्रवृत्तियां हमारे ज्ञान की अनुचर नहीं हैं। हमें अपने को अपने ज्ञान से नहीं, अपने व्यवहार से परखना है। हमारा चरित्र वही है; हम वही हैं, जो हम करते हैं नाकि वह जो हम दूसरों से सुनते या प्रस्तावों में पढ़ते और काम के समय भुला देते हैं। व्यवहार की छोटी छोटी बातों से भी हम अपने को परख सकते हैं।

विनय की आत्मपरीक्षा

यदि आप को यह परखना है कि आप विनीत, सज्जन और सुशील है या नहीं, तो आप अपने से निम्नलिखित पांच प्रश्न पूछिये :—

प्रश्न १—आप घर पर या बाहिर किसी की भी सेवा प्राप्त करके कृतज्ञता-प्रकाश के लिये धन्यवाद कहते हैं या नहीं ?

कोई भी रिश्ता मनुष्य को मनुष्य का गुलाम नहीं बनाता। पति होने से ही पुरुष को स्त्री के हाथों पक्वान खाने, बाहिर से आकर पंखा करवाने या भोगेच्छा की तृप्ति का अधिकार नहीं मिल जाता। स्त्री को भी पत्नी होने के नाते से गहने बनवाने, विलास की वस्तुएं खरीदने का अधिकार नहीं मिल जाता। यह अधिकार-भावना ही मनुष्य को कृतज्ञता-प्रकाश से रोकती है। इस अधिकार का दुरुपयोग

बहुत होता है। स्वार्थी पिता उम्र भर अपने बच्चों से हुक्का भरवाते और जूते पालिश करवाते हैं और स्वार्थी पुत्र वृद्ध पिता से घर की पहरेदारी और चाकरी करवाते हैं। प्रत्येक सेवा के लिये कृतज्ञता-प्रकाश करने वाला व्यक्ति ही इस स्वार्थ-भावना से बच सकता है। आप विनीत हैं इसका प्रमाण यही है कि आप सब के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं, किसी से अधिकारवश काम नहीं कराते।

प्रश्न २—आप अपनी भावनाओं को प्रगट करने के समय अन्य कुटुम्बियों की भावनाओं को तो नहीं कुचलते? उनकी भावनाओं का भी ध्यान रखते हैं या नहीं?

अपने को विनय की देवी मानने वाली माँ भी प्रेम के उद्वेग में बच्चे को अपनी छाती से इतनी ज़ोर से चिपटाती है कि उसका दम घुटने लगता है। प्यार का अत्याचार अन्य सब अत्याचारों से बड़ा है। पति का प्रेम जब अतिशय स्त्री-संभोग से प्रगट होता है तब स्त्री की भावनायें बड़ी निर्दयता से कुचली जाती हैं। माँ-बाप भी प्रेम के नाम पर बच्चों की भावनाओं को प्रायः पैरोंतले रौंदते रहते हैं। वह प्रेम नहीं; आत्मतुष्टि है, मन की भूख मिटाना है। यह दूसरे की भावनाओं के आगे सिर झुकाना सिखाता है।

जिस प्रेम में विनय नहीं, दूसरे की भावना का सम्मान नहीं, वह हमारी विनाशकारी प्रवृत्तियों को उत्तेजित करता है। तभी हम प्रायः अपनी सबसे अधिक प्रिय वस्तु को ही अपने हाथ से नष्ट कर देते हैं। आप विनयशील होंगे तो अपनी पत्नी की भावनाओं का उतना ही सम्मान करेंगे जितना आप अपने अफ़सर की पत्नी का या अपने मित्र की पत्नी का करेंगे।

मनुष्य के विनय की परीक्षा अपने घर में ही होती है। हम होटल में रूखे-सूखे खाने को बड़ी शांति से खाते हैं और परोसने वाले को 'टिप' भी दे आते हैं किन्तु घर में रोटी ज़रा सी भी ठंडी हो जाय तो [illegible] [illegible] उठाकर बाहिर फैंक देते हैं। मेरे एक मित्र हैं, [illegible]

एजन्ट। सुन्दर गोल चेहरा, गोरा रंग, सुडौल शरीर। हंसते हैं तो फूल झड़ते हैं। रास्ते पर मिल जाएँ तो ज़मीन तक झुककर प्रणाम करते हैं। आप विनय, सज्जनता और शिष्टता के मूर्तिमान अवतार हैं। किन्तु, घर में वही हंसता चेहरा रौद्र रूप में बदल जाता है। बच्चों को बेतों से इतना पीटते हैं कि खलड़ी उधड़ जाती है। छत की कड़ियों के साथ रस्सी बांधकर औरत को उल्टी लटका देना और तीन-तीन दिन तक भूखे रखकर तड़पाना उनके पारिवारिक जीवन का नित्य-कर्म सा बन गया है। वस्तुतः उनकी विनय-शीलता केवल व्यापारिक चेष्टा होती है। हमारा होटल में विनम्र भाव से सब्ज़ीकुसी चीज़ खाते जाना भी विनय नहीं, व्यापारिक शिष्टता है। यह विनय ग्राहक के सामने दूकानदार का; मालिक के सामने नौकर का स्वार्थपूर्ण झूठा नाटक है। यह विनय मनुष्य के चरित्र का अंग नहीं बन सकता।

विनय के उत्तर में विनय देने में भी चरित्र की परीक्षा नहीं होती। सच्ची परीक्षा वहीं होती है जहां दुर्विनय का उत्तर विनय से दिया जाय। लाखों में एक माता-पिता ऐसी परीक्षा में पूरे उतरेंगे। बच्चे के दुर्विनीत होते ही उसे घर से निकाल देना या दण्ड के भय से उसकी प्रवृत्तियों को दबा देना ही हमारे मातापिता को आता है। वे भूल जाते हैं कि उनका दुर्विनय ही उनके बच्चे में प्रतिबिम्बित होता है। बच्चे को अकारण डांटने फटकारने अथवा लापरवाही के साथ अनाप-शनाप कहने से ही बच्चा भी लापरवाह और ढीठ बन जाता है। आप बच्चे के साथ विनय का व्यवहार करेंगे तो वह भी विनयशील रहेगा। उसे सुधारिये। वह तो आपकी ही छाया है।

प्रश्न ३—आत्मनिरीक्षण करते हुए तीसरा प्रश्न आप अपने से यह पूछिये कि आपकी वेशभूषा, बातचीत, या आपके नित्य के व्यवहार में दुर्विनय की झलक तो नहीं है?

दूसरों की आंखों में चुभने वाली, रंग के भड़कदार ढंग की चमक-

दमक वाली पोशाक पहनना उतना ही दुर्विनय है जितना दूसरे को विषबुझी बात कह कर जलाना। वेशभूषा मनुष्य के चरित्र का चित्रण करती है। गहरे रंग के आकर्षक कपड़े मनुष्य के उथलेपन को प्रगट करते हैं। स्त्रियों की शालीनता ही उनके वस्त्रों से प्रगट नहीं होती, पुरुषों का चरित्र भी पुरुष के वस्त्रों से प्रगट होता है। बातचीत में हम बहुत दुर्विनय हो जाते हैं। चुभते हुए व्यंग, ज़हरीले कटाक्ष और अपने पक्ष के समर्थन में मिथ्या दुराग्रह हमें कुछ देर के लिये दूसरों की नज़रों में महत्त्वपूर्ण व्यक्ति बना देते हैं। मित्र-मण्डली का मनोरंजन भी हो जाता है। किन्तु यह अभिनय हमारे व्यक्तित्व का नाश कर देता है। हमें दिन में एक बार अवश्य यह चिन्तन कर लेना चाहिये कि हमारी वेशभूषा और बातचीत हमारे विनय का प्रतिनिधित्व करते हैं या नहीं ? यदि नहीं--तो आप सर्वांश में विनीत नहीं हैं। आपको पूरा विनीत बनने के लिये बहुत अभ्यास की आवश्यकता है।

प्रश्न ४—अपने पड़ोसियों के मुक़ाबिले में अमीर दिखने के लिये आप विशेष चेष्टा तो नहीं करते ?—यह प्रश्न भी आपको विनय की परीक्षा करते हुए करना चाहिये।

हमारे पड़ोस में रहने वाले एक ठेकेदार ने युद्ध काल में लाखों रुपये बनाये हैं। अपनी अमीरी का प्रदर्शन करने के लिये उन्होंने मकान के अपने हिस्से वाली दीवारों पर विशेष नीला रोग़न करवा दिया है। बाक़ी इमारत पर पहले का मटमैला रंग ही है, जो कई बरसातों से धुल-धुल कर बिल्कुल मिट्टी का रंग हो चुका है। उनके नीले रंग ने मकान को चितकबरा बना दिया है। वह बहुत ही भद्दा-बेहूदा मालूम होता है किन्तु ठेकेदार जी की अमीरी का प्रदर्शन अवश्य करता है। हम विनीत बनना चाहते हैं तो इन प्रलोभनों में बहने से हमें सावधान रहना होगा।

प्रश्न ५—दूसरों को पीछे धकेल कर आगे बढ़ना, दूसरे की बात

काटकर बोलना, भेंट का निश्चित समय निर्धारित करके अन्य आवश्यक काम में व्यग्र होने का बहाना बनाते हुए निश्चित समय पर अनुपस्थित रहना, अथवा जानबूझकर दूसरों को घन्टों इन्तज़ार करवाना, ये सब चेष्टायें अविनय की निशानियां हैं। आत्मनिरीक्षण द्वारा हमें यह परीक्षा करते रहना चाहिये कि कहीं अनजाने में भी हम ऐसी चेष्टायें तो नहीं कर रहे ?

आपको अपने से इन प्रश्नों का उत्तर भी मांगना चहिये कि आप गाड़ी में किसी स्त्री को या वृद्ध व्यक्ति को जगह न देकर स्वयं बैठे तो नहीं रहे; किसी आगन्तुक के घर आने पर आपने उपेक्षावश उसका तिरस्कार तो नहीं किया; उसके गरीबी के कपड़े को देख कर भवें तो नहीं चढ़ाईं; रास्ते पर तेज़ी से जाते हुए आपके कन्धों से टकरा कर कोई राहगीर गिर तो नहीं पड़ा। मोटर चलाना दुर्विनय नहीं है किन्तु पैदल चलने वालों को रास्ता पार करने का मौका ही न देना दुर्विनय है। मेरे एक मित्र ने नई-नई मोटर ली है। वे मोटर चलाते हुए उचक-उचक कर देखा करते हैं कि सड़क पर खड़े लोग उनका दबदबा मान रहे हैं या नहीं। सड़क के किनारे कहीं क्यू की लम्बी कतार लगी हो तो वे मोटर का 'भोंपू' बजा-बजा कर सबका ध्यान अपनी ओर खींच लेते हैं। यह दुर्विनय है। कुछ रूपवती स्त्रियां भी इस दुर्विनय की अपराधिनी होती हैं। शृंगार के लिये गालों व ओठों पर हल्की लाली लगाना बुरा नहीं है, परन्तु गहरे लाल रंग से रंग कर कमज़ोर चरित्र वाले नौजवानों पर वासना की चिनगारियां फैंकते चलना पाप है; दुर्विनय है।

सचाई पर स्थिर रहना चरित्र-बल की निशानी है, यह बात सभी जानते हैं, किन्तु अपने दैनिक कामकाज में भी हम सचाई पर दृढ़ नहीं रहते। कहने को हम अपने को पक्के सत्य-निष्ठ कहते हैं किन्तु जाने-अनजाने दिन में कई बार हम अपने ईमान को बेचने में ज़रा भी नहीं हिचकिचाते ईमानदारी से किया आत्मनिरीक्षण ही हमें इस अधःपतन से सावधान कर सकता है।

सत्यनिष्ठा की परीक्षा भी चरित्र-निर्माण में महत्वपूर्ण है।

प्रत्येक सत्यनिष्ठ को अपने से यह प्रश्न करना चाहिए कि उसने अपने ईमान को किसी भी मूल्य में बेचने का इरादा तो नहीं किया ? मूल्य की बात इस प्रश्न में बड़ी महत्वपूर्ण है। थोड़ी कीमत पर ईमानदारी बेचने में ज़रूर लोग संकोच करते हैं—लेकिन ऊँची कीमत का सौदा पटते ही उसे बाज़ी पर लगा देते हैं—मानों ईमान नाम की कोई चीज़ उनके दिल में थी ही नहीं !

एक दिन मेरे एक प्रश्न का उत्तर देते हुए मेरे चपरासी ने यह कहा कि "साहब, मैं इतना कमीना नहीं हूँ कि १५) पर बेईमान हो जाऊँ।" अपने भोलेपन में उसने अपने ईमान का खोखलापन ज़ाहिर कर दिया। मैंने उससे कहा : "१५) पर बेईमान नहीं होगे, मैंने मान लिया; परन्तु १५०० रुपये पर तो ईमान बेच ही दोगे न ?" वह बड़ा शर्मिन्दा हुआ। कहना उसे यह चाहिये था कि किसी भी क़ीमत पर वह सचाई को नहीं छोड़ेगा। किन्तु दिल की बात को छिपाने में वह पका हुआ धूर्त नहीं था, इसलिये सच्ची बात कह गया।

सच तो यह है कि जो आज १५०० रुपये पर ईमान बेचता है कल वह १५ दमड़ी पर भी बेचेगा। डाके-चोरी से पैसा कमाने की आदत पड़ने पर चोर एक चवन्नी के लिये भी खून कर देता है। और जो चोर नहीं होगा वह कुबेर के खज़ाने को पाने के लिये भी चोरी नहीं करेगा।

ईमान केवल पैसे के मूल्य पर नहीं बेचा जाता, अन्य मूल्यों पर भी बेचा जाता है। आत्मनिरीक्षण के समय हमें उन सब का ध्यान रखना चाहिये। मेरे एक मित्र ने अपने नौकर पर चोरी का दोष लगाने के लिये उसकी जेब में ५० पौंड डाइप भर दिया और मुझे इस चोरी का गवाह बनने को कहा। अपने मित्र की मित्रता को सुरक्षित रखने के लिये यदि मैं अपना ईमान बेच देता तो एक निर्दोष व्यक्ति को तीन महीने का कारावास होजाता। इसी तरह के अवसर हमारे सामने नित्य

क्या आप विश्वास-भाजन हैं ?

'आप विश्वासपात्र हैं या नहीं'—यह प्रश्न भी आत्मनिरीक्षण के सिलसिले में बहुत महत्त्व का है। विश्वासपात्र वह है जिस पर भरोसा किया जा सके।

मनुष्य को यह जानकर बेहद खुशी होती है और सच्चा सन्तोष मिलता है कि उसपर दूसरे लोग भरोसा करते हैं। सभी मनुष्य सामाजिक जीव हैं, एक ही प्रथमजा मनुष्य जाति के वंशज हैं। उन सब में ही यह समानशीलता है कि सभी किसी के विश्वासभाजन बनने में बड़ा सन्तोषपूर्ण अभिमान अनुभव करते हैं।

जो व्यक्ति विश्वासभाजन नहीं बनता, वह हीन, दीन बनकर ही ज़िन्दगी काटता है। सच तो यह है कि जिम्मेदारी और सफलता दोनों से वह बचना चाहता है। विश्वास योग्य व्यक्ति जिम्मेदारी निभाता हुआ बढ़ता है। विश्वासपात्रता स्वयं जिम्मेदारी सिखा देती है। दूसरे लोग हम पर भरोसा कर सकें, ऐसी अद्वितीय श्रद्धा हमारे मन में भी पैदा होनी चाहिये।

विश्वासपात्र होने की पहली शर्त शिक्षा है। शिक्षा जहां विनय सिखाती है, वहां वह कष्टों को सहने की बुद्धि भी देती है। ज्ञान से आत्म-विश्वास बढ़ता है। और इसका उपयोग निरन्तर अभ्यास से ही हो सकता है।

दुनिया में ऐसे प्रकाण्ड बुद्धिमान बहुत हैं जिन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। किन्तु दुनिया में एक भी ऐसा चरित्रवान् नहीं मिलेगा जिसका विश्वास न किया जा सके।

विश्वासपात्रता की परख आत्मनिरीक्षण से ही हो सकती है। अपने सम्बन्ध में दूसरों की राय सुनने से भी मनुष्य अपने आत्म-विश्वास की परीक्षा कर सकता है। अपने प्रति दूसरों का रुख देखने से ही हम अपना चरित्र भाप सकते हैं। यदि दूसरे लोग हमसे कतराकर निकल जाते हैं, यदि वे हमें कोई भी आवश्यक कार्य-भार

सुपुर्द नहीं करते, यदि हमारी प्रतिज्ञाओं पर लोग कान नहीं देते तो समझ लीजिए कि लोग हम पर भरोसा नहीं करते। आत्म-निरीक्षण द्वारा पता लगाइये कि कहीं ऐसा तो नहीं होता?

आपको अपनी प्रतिज्ञा करने की मनोवृत्ति में सुधार करना होगा। अच्छा यह है कि आप अपनी महत्त्वाकांक्षा उतने ही दायरे में क़ैद रखें जितने का नियंत्रण भलीभांति हो सके। आप यदि किसी कार्य में असमर्थ हैं तो अपनी अक्षमता प्रगट कर दीजिये। छोटे काम को खुशी से करना आपको बड़े काम को बेढंगी रीति से सम्पन्न करने की अपेक्षा अधिक विश्वास-भाजन बनाता है।

आत्मविश्वास की परीक्षा के १६ प्रश्न

आत्मविश्वास की मर्यादित मात्रा जीवन के बहुमूल्य रत्नों में से एक है। इसके बिना हम किसी भी कार्य में सफलता नहीं पा सकते। इसलिये हमें अपने जीवन में आत्मविश्वास की मात्रा की परीक्षा आत्म-निरीक्षण द्वारा प्रतिदिन करते रहना चाहिये। यह काम कठिन नहीं है। दूसरों के सामने हम अपने हृदय की कायरता को छिपाने के लिए कुछ देर आत्म-विश्वासी होने का ढोंग कर सकते हैं किन्तु अपने को धोका तो नहीं दे सकते।

आत्मविश्वास की परीक्षा के लिये आप अपने से निम्न प्रश्न पूछिये:—

१. बड़े आदमियों से भेंट करते हुए आपको संकोच तो नहीं होता?
२. सामाजिक मेलजोल में आपकी दिलचस्पी कम तो नहीं है?
३. ज़िम्मेदारी के कामों का आप पूरा स्वागत तो करते हैं?
४. सामान्य व्यवहार में आपको बेचैनी-सी तो नहीं होती? सहज सरलता से आप सबसे मिलजुल लेते हैं?

५. अपनी बातचीत में हास्यविनोद मिलाने का कौशल आप में है ?

६. भय व शोक में आप डूब तो नहीं जाते ?

७. अपने निश्चयों की सत्यता पर आप स्वयं सन्देहशील तो नहीं रहते ?

८. आपकी बुद्धि व्यवसायात्मिका है या नहीं ?

९. बातचीत में आप धाराप्रवाह बोल सकते हैं या नहीं ?

१०. व्याख्यान देते हुए किसी टोकने वाले को मुंहतोड़ उत्तर आप दे सकते हैं ?

११. किसी अपरिचित स्त्री से मिलने पर आपका मुंह शर्म से तमतमा तो नहीं जाता ?

१२. आपके मन में हीनता के भाव तो यदाकदा नहीं उठते ?

१३. दूसरों के अच्छे कामों को मुक्त रूप से सराहने का साहस आपमें है ?

१४. कोई नया काम शुरू करने का साहस आप कर सकते हैं ?

१५. किसी अपने से कमज़ोर पर हमला करने की प्रवृत्ति तो आप में नहीं ?

१६. कभी एकान्त में, सर्वथा मुक्त रहना पड़े तो आप रह सकते हैं ?

इन १६ प्रश्नों का उत्तर यदि आत्मविश्वास के पक्ष में होगा तो आप निश्चय से आत्मविश्वासी हैं। इसी तरह के अन्य प्रश्न भी आप अपने से पूछ सकते हैं। यह परीक्षा आपको चरित्र-निर्माण के कार्य में बहुत सहायक सिद्ध होगी।

चरित्र की अभिव्यक्तियों का भी सुधार

मनुष्य का चरित्र उसके दैनिक व्यवहार में व्यक्त होता है। उसके रहन-सहन के प्रकार, उसकी बातचीत के ढंग, हँसने-रोने की रीति, उसके पारिवारिक जीवन, आदि से मनुष्य के चरित्र को अभिव्यक्ति

मिलती है। इन अभिव्यक्तियों को चरित्र नहीं कह सकते और नाही इनके अलग-अलग सुधार से मनुष्य का सम्पूर्ण चरित्र बनता है। ये तो केवल आन्तरिक चरित्र के बाह्य लक्षण मात्र हैं। जैसे शरीर का आन्तरिक रोग बाह्य लक्षणों में प्रगट होता है, उसी तरह मनुष्य का विकृत चरित्र, विकृत हंसी, विकृत पारिवारिक जीवन और विकृत वार्तालाप में प्रगट होता है। फिर भी, जिस तरह रोग के बाह्य चिह्नों का उपचार करना भी रोग के असली इलाज में सहायक होता है, उसी तरह चरित्र के विकृत लक्षणों का इलाज भी मानसिक रोग के उपशमन में सहायक हो सकता है। हमें इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। अन्तड़ियों की खराबी से पैदा ज्वर का इलाज भी उतना ही आवश्यक है जितना आन्तड़ियों का इलाज करना। ज्वर स्वयं में कोई रोग नहीं है, वह आन्तरिक विकार का बाह्य चिह्न ही है। फिर भी कोई वैद्य ऐसा नहीं है जो ज्वर की उपेक्षा करे। ज्वर का उपचार भी उतना महत्वपूर्ण है जितना उसके मूलकारण का इलाज।

हास्यः मानसिक प्रसन्नता की अभिव्यक्ति

हास्य स्वयं में चरित्र का अंग नहीं है। वह केवल हमारी मानसिक प्रसन्नता की अभिव्यक्ति है। वास्तविक चरित्र है मानसिक प्रसन्नता। किन्तु हास्य की शैली में, हास्य के उचित समय व स्थान में, विचार-पूर्वक सुधार के यत्न हो सकते हैं। वह यत्न भी चरित्र-निर्माण का ही उपक्रम होगा।

हंसी हमारे हार्दिक आनन्द की द्योतक मानी जाती है। परन्तु क्या यह बात शतप्रतिशत सच है? क्या हम केवल मानसिक आनन्द की अभिव्यक्ति के लिये ही हंसते हैं?

दूर जाने की आवश्यकता नहीं, अपने ही मन में टटोल कर देखिये। जितनी बार आप दिन में हंसते हैं, क्या उतनी ही बार आपका हृदय सच्चे हर्ष का अनुभव करता है? आपके मन में धीमी-सी आवाज से उसका उत्तर मिलेगा 'नहीं तो!'

सड़क के बीचोंबीच किसी को गिरता देख हमारी हंसी अनायास ही फूट पड़ती है। हम उसे छुपाने की कोशिश करते हैं इसलिये कि कहीं लोग हमें असभ्य न समझें। फिर भी यह हंसी फूट ही पड़ती है। यह हंसी हमारे हार्दिक हर्ष की अभिव्यक्ति नहीं होती बल्कि मन में छुपे उस अहंभाव की अभिव्यक्ति है जो गिरने वाले को धिक्कार कर कह रहा होता है कि "यदि तुम भी मेरी तरह चलना जानते तो न गिरते; मैं तुमसे अच्छा चलना जानता हूं।" यह अहंभाव ही हमें हंसाता है। ऐसी हंसी हमारे चरित्र की निर्बलता है।

हमारी स्वार्थ भावना भी हमें हंसाती है

हमारी स्वार्थ-भावना भी हमें हंसाती है। एक व्यक्ति भरी सभा में भाषण देते हुए घबराकर जब सब कुछ भूल जाता है तो हम खिलखिलाकर हंस पड़ते हैं। हमारा मन उस समय यह कह रहा होता है कि "अच्छा हुआ, इस परिस्थिति में कोई दूसरा था, हम नहीं थे।"

अपने को ऊँचा समझने की प्रवृत्ति भी हमें सभ्य समाज में बैठकर दूसरों की हंसी उड़ाने को प्रेरित करती है।

अपनी कमज़ोरी और अल्पज्ञता को छुपाने के लिये भी हम हंसी की आड़ लेते हैं। जब कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण प्रश्न हमारे सम्मुख आता है जिसको हमारी बुद्धि समझ नहीं पाती तो हम यह कहकर कि 'अरे, यह तो फिजूल सी बात है, इसके चक्कर में हम नहीं पड़ते' उस बात को हंसी में उड़ा देने का यत्न करते हैं। यह हंसी भी हार्दिक प्रसन्नता को व्यक्त न करके हमारी अल्पज्ञता और उसे छुपाने के मिथ्या आचरण को व्यक्त करती है।

मन के विपरीत भावों को ढकने के लिये भी हम हंसी का आवरण धारण करते हैं। जिनके साथ हमारा मन और विचार मेल नहीं खाते उनसे मिलते, बातचीत करते समय प्रायः हम हंसमुख ही नहीं अत्यधिक हंसमुख बनने का यत्न करते हैं। हंसी की बात न होने पर भी

हंसते हैं। हमारी यह हंसी अपनी आन्तरिक उदासीनता को छुपाने के लिये होती है। हम यह नहीं चाहते कि हमारी उपेक्षा उन पर प्रगट हो इसलिए हम बनावटी हंसी हंसते हैं।

ऊंचे स्वर से अट्टहास

जिनका व्यक्तित्व अविकसित रह जाता है, बुद्धि अपरिपक्व रह जाती है या जिनकी मानसिक प्रवृत्तियां अस्वाभाविक दबाव में निरुद्ध रह जाती हैं, वे अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक मात्रा में और ऊंचे स्वर से अट्टहास करते हैं। वे हर बात पर हंसते हैं—और बिजली की तरह कड़क कर हंसते हैं। वे अपनी हीनभावना के पूरक के रूप में ही अपनी हंसी को अपनाते हैं। मैं एक ऐसे हंसोड़ व्यक्ति को जानता हूं जो हंसी के बिना कोई बात ही नहीं करते। उनके गालों की पेशियां इतनी अभ्यस्त होगई हैं कि इतने ऊंचे स्वर से हंसते हुए भी उन्हें थकान नहीं होती। साधारणतया हंसी के आवेश में मनुष्य की आंखें भी गीली हो जाती हैं। लेकिन ऐसी झूठी हंसी हंसने वाले बिल्कुल सूखी हंसी हंसते हैं।

दूसरों पर अपना प्रभाव डालने के लिये भी हम बहुत बार हंसी का सहारा लेते हैं। अपने विरोधी की दलील पर उपेक्षापूर्ण हंसी हंसकर हम सुनने वालों को यह कह रहे होते हैं कि 'देखो इसे, कितनी मूर्खता की बात कह रहा है।' यह उपेक्षासूचक हंसी विपक्षी को परास्त करने में बड़ी सहायक होती है। वे भी हंसने वाले के साथ मिलकर उसके विपक्षी पर हंसने लगते हैं। हंसी छूत के रोग की तरह फैलती है। दुनियां हंसने वालों का साथ देती है। आप हंसेंगे तो लोग भी आपके साथ हंसेंगे। आप दूसरे पर हंसेंगे तो लोग भी दूसरे पर हंसेंगे।

कभी कभी हम बिना किसी बात के भी हंसते हैं; केवल दूसरों को हंसता देखकर खिलखिला उठते हैं। अश्लील या असभ्य मज़ाक़ की बातें भी हमें हंसा देती हैं। इस हंसी में हमारी अर्धचेतन मन में दबी वासनाओं को अभिव्यक्ति मिलती है। हंसी-मज़ाक़ की आड़ में हमारी

असामाजिक प्रवृत्तियों को प्रगट होने का अवसर मिल जाता है। यह भी अच्छा ही है। अन्यथा हमारी निरोधित वासनायें मन में ही दबी रहकर किसी भयंकर कुचेष्टा द्वारा प्रगट होगीं। हंसी के माध्यम द्वारा उनका प्रगट होना ऐसा अपराध है जो सभ्यसमाज द्वारा क्षमायोग्य माना जाता है।

सरल, स्वाभाविक हंसी

जीवन में हंसी का मूल्य किसी भी अन्य अभिव्यक्ति से कम नहीं। इसकी उपयोगिता भी कम नहीं है। फिर भी हम इसे सुन्दर, सरल और स्वाभाविक बनाने का प्रयत्न नहीं करते। सच्ची हंसी वही है जो मानसिक प्रसन्नता को प्रगट करे, वह हंसी मन की सरलता, उदारता और सहानुभूति को प्रगट करने वाली होनी चाहिये। बच्चे की-सी सरल स्वाभाविक और भोली हंसी मनुष्य का जीवनपर्यन्त साथ निभाती है।

हंसने से पहले हमें यह देख लेना चाहिये कि वह हंसी किसी को कष्ट पहुंचाने वाली न हो। जो व्यक्ति केवल अपनी ही मानसिक प्रसन्नता के लिये हंसता है वह आत्मपरायण है, स्वार्थी है। स्वार्थ-पूर्ण हंसी विष से बुझे बाण की तरह दूसरों को घायल करने वाली होती है।

स्वस्थ हंसी मनुष्य के चरित्र की बहुत बड़ी देन है। कष्टों में हंसने वाले ही चरित्रवान् होते हैं। यही चरित्र की परीक्षा है। हंसने के लिये विशेष प्रयत्न करने की ज़रूरत नहीं होती। ६ महीने का बच्चा भी हंसना जानता है। किन्तु कई बार रोते-रोते हम हंसना इस कदर भूल जाते हैं कि हंसी की बात पर भी नहीं हंसते। जब ऐसा हो तो हमें हंसने का अभ्यास करके भी हंसना चाहिये। जैसे मानसिक प्रसन्नता हंसी का कारण होती है वैसे ही कई बार हंसी भी मानसिक प्रसन्नता का कारण बन सकती है। जब रोना आ रहा हो, आंखें

बरबस रोने को उमड़ रही हों, कष्टों की भंवर से निकलने का कोई रास्ता न सूझता हो, क़दम २ पर रास्ते के कांटे दामन पकड़ लेते हों— ऐसे विकट समय में यदि आप एक बार हंस दें, खिलाखिलाकर हंस पड़ें तो आपकी आपत्तियों के घने बादल हंसी की हवा में बिखरने शुरू हो जायंगे। हंसी के झोंके उन बादलों को उड़ाकर दूर ले जायंगे। प्रसन्नता का सूर्य काले बादलों को चीर कर निकल आयगा।

महापुरुषों की हंसी में यही जादू होता है। उनकी हंसी लाखों व्यक्तियों के हृदयों में प्रतिध्वनित होकर आकाश में छा जाती है। गांधी जी की 'बालसुलभ' हंसी ने हज़ारों नैराश्य-पीड़ितहृदयों को नया जीवन दिया था।

बचपन में मन पर डाला गया प्रभाव और बचपन की मनोभावनायें जीवन के अन्त तक बनी रहती हैं।

चरित्र और सौन्दर्य प्रेम

अपने वातावरण को कलात्मक ढंग से सुन्दर बनाने में बच्चे के चरित्र का सुन्दर विकास होता है। कलाप्रेम व सौन्दर्य प्रेम भी बच्चे के चरित्र को विकसित करने में बड़ा सहायक होता है।

मानव चरित्र के विकास में विज्ञान और कला दोनों समान भाव से सहयोगी रहे हैं। सभ्यता का मार्ग हम विज्ञान के सहारे तय करते हैं किन्तु संस्कृति का विकास हमारी कलात्मक रचनाओं द्वारा ही होता है।

सौन्दर्य-प्रियता की भावना मनुष्य में स्वाभाविक ही है। यही भावना मनुष्य में अपना चरित्र कलात्मक बनाने की इच्छा उत्पन्न करती है। बचपन से ही हम अपने प्रत्येक कार्य में अपनी कलाप्रियता को अभिव्यक्त करते रहते हैं। सुन्दर पहरावा, प्रकृति से प्रेम, घर की सजावट, सुन्दर रहनसहन-ये सब हमारे कलात्मक चरित्र के सजीव प्रमाण हैं।

चरित्र की कलात्मक भावनाओं को प्रकट रूप देने के लिये हमें

निरन्तर उद्योग करना चाहिये। मनुष्य में सौन्दर्य भावना को जागृत करना और उसकी कलात्मकता को अनुप्राणित करना, मनुष्य के चरित्र को ऊँचा उठाना है।

बच्चा जन्म से ही कलाकार और सौन्दर्यप्रेमी होता है। जब उसे कुछ लिखना नहीं आता तब भी वह जो कुछ हाथ में आजाय उसकी सहायता से कुछ न कुछ बनाने का यत्न किया करता है। उसकी ये रचनात्मक वृत्तियां ही उसके चरित्र का निर्माण करती हैं।

जो बच्चा सौन्दर्य से उदासीन है, रचना में आनन्द नहीं लेता उसका मन विकृत समझना चाहिये। मां-बाप का कर्त्तव्य है कि वे बच्चे में व्यवस्था और सौन्दर्य की भावना को उत्साहित करते रहें।

जिसे सुन्दर वस्तुओं से प्रेम होगा वही अपने चरित्र को संयत और सुन्दर बनाने का यत्न करेगा। जिस बच्चे में स्वच्छ-निर्मल वस्त्र पहनने की रुचि होगी वही स्वच्छ, निर्मल मन का महत्व समझ सकेगा। उसे बाह्य या आन्तरिक मलिनता से स्वाभाविक अरुचि होगी। वह सदा प्रयत्नशील रहेगा, रचनाप्रवीण रहेगा और चरित्रवान रहेगा।

मनुष्य के व्यक्तित्व का एक छोर विश्व के विशाल मायाजाल से छू रहा है और दूसरा छोर अपने एकाकीपन एकाकीपन में रस लेना में ही सिमट कर पूर्णता अनुभव कर लेता भी चरित्र की पूर्णता है है। दुनियां में रहता हुआ भी वह अकेला रहता है। सामाजिक प्राणी होते हुए भी मनुष्य वैयक्तिक प्राणी है। उसके स्वभाव में दोनों चरित्रों का समावेश है। इन दोनों विरोधी गुणों की व्यवस्था जहां सन्तुलित होगी, वहीं सुख होगा।

दुनियां के मेले में जो मनुष्य बिल्कुल खो जाते हैं उनका चरित्र [illegible] जाता है। दूसरों की खुशी पर अपनी खुशी न्योछावर कर

देना, दूसरों के लिए अपने सुख का बलिदान कर देना अवश्य मनुष्य के चरित्र को व्यक्तित्व की पूर्णता की ओर ले जाता है किन्तु व्यक्तित्व का बलिदान भी वही कर सकेगा जिसके पास व्यक्तित्व की सम्पत्ति होगी। अपने सुख का त्याग वही कर सकेगा जिसके पास अपना सुख होगा। अतः समाज के लिये व्यक्तित्व का बलिदान करने से पहले मनुष्य को अपने व्यक्तित्व का निर्माण करना चाहिये।

जो लोग अपना व्यक्तित्व बनाये बिना समाज में जाते हैं वे केवल
दूसरों के सुख में भाग लेने जाते हैं। लेने का
दानी बनने से पहले अधिकार हमें तभी होता है अगर हमारे
सम्पत्तिशाली बनना पड़ेगा पास कुछ देने को भी हो। दानी बनने से
पहले सम्पत्तिशाली बनना पड़ता है, त्यागी
बनने से पहले त्याग की सामग्री जुटानी पड़ती है। तभी त्याग की महिमा होती है। सामाजिक बनने से पहले हमें एकाकी रूप में सुखी बनना चाहिये। दूसरों के सम्पर्क में रस लेने से पहले हमें एकाकीपन में रस लेना चाहिये।

अकेलेपन में रस लेने के लिये मनुष्य को प्रकृतिप्रेमी, अध्ययनशील और कलाप्रिय होना चाहिये। महान् व्यक्तियों को एकाकीपन बहुत प्रिय होते हुए भी वे जनता से खो नहीं जाते। जवाहरलाल जी जनता के प्रिय हैं। जहां वे जाते हैं लाखों लोग उनके दर्शनों को उमड़ पड़ते हैं। उन्हें भी जनता से प्रेम है किन्तु अपनी जीवनी में वे स्वयं लिखते हैं कि—

"मैं जनता के निकट पहुंचा और जनता मेरे निकट आई, फिर भी मैं जनता के आगे अपने को समर्पण नहीं कर सका। जनता के बीच रहकर भी मैं उससे दूर अपनी पृथक् सत्ता रखता हूं।"

एकाकीपन जवाहरलाल जी को प्रिय है। भावावेश में रहना और एकान्तप्रियता जवाहरलाल जी के चरित्र का अंग हो गये हैं। ऐसे एकान्त-प्रिय व्यक्तियों को प्रकृति से प्रेम हो जाता है।

अब एकान्तप्रियता नई उमंग भरती है

प्रकृति से उन्हें जो सन्तोष, उमंग और उत्साह मिलता है, वह जनता की वाहवाही से नहीं मिलता। अपनी पहली पर्वतयात्रा का वर्णन करते हुए जवाहरलाल जी ने लिखा है :

"पर्वत की उन निर्जन घाटियों में घूमने का यह मेरा पहला अनुभव था। हम जोज़ीला घाटियों की चोटी में थे। नीचे एक ओर देवदार के ऊँचे वृक्षों की घनी हरियाली थी, दूसरी ओर सूखे पहाड़ों की नंगी चट्टानें। ऊपर बरफ़ से ढकी हुई चोटियां चमक रहीं थीं और उनमें से छोटे-छोटे ग्लेशियर हमसे मिलने के लिये नीचे उतर रहे थे। हवा ठंडी और कटीली थी।......धीरे-धीरे सूनापन बढ़ता गया। पेड़ों और वनस्पतियों तक ने हमारा साथ छोड़ दिया। सिर्फ नंगी चट्टानें, बरफ की शिलायें और कभी-कभी खुशनुमा फूल दिख जाते थे। प्रकृति के इस सुनसान रूप में मुझे अजीब सन्तोष मिला। और एक ऐसा उत्साह और उमंग का तूफान दिल में आया जो पहले कभी नहीं आया था......।"

जवाहरलाल जी की तरह चीन का सेनानी—जो अब एकान्त जीवन में लौट गया है—चांग काई शेक भी एकान्तप्रिय व्यक्ति है। उन्हें भी पहाड़ की घाटियों में अकेले घूमना बहुत अच्छा लगता है। करोड़ों व्यक्तियों का नेता होते हुए भी वह एकाकी है, एकाकीपन में रस लेता है।

प्रकृति प्रेम एकान्तप्रिय व्यक्ति का वरदान

ऐसे एकान्तप्रिय व्यक्तियों के लिये आकाश में दौड़ते हुए बादल, धरती पर खेलती हुई धूपछांव, झरने का कलकल में फूटती हुई कविता, वृक्षों की झूमते हुई शाखायें जितनी मनोरंजक होती हैं उतने संसार के कोलाहल, या उत्तेजक नृत्य-संगीत नहीं होते।

जीवन के एकाकीपन को सरस बनाने का श्रेय पुस्तकों को भी कम नहीं। पुस्तकें हमें महान् आत्माओं से संगति करने का अवसर देती हैं। जिन्हें स्वाध्याय का अभ्यास है उनके जीवन का एकाकीपन सुन्दर बन जाता है। फीकापन या उदासीनता उनके मन को डराती नहीं। कला में रुचि रखना भी एकाकीपन को सरस बनाने में सहायक है। संगीत, चित्रकला, नृत्य या मूर्तिकला में मन लगाने से जीवन सरस बन जाता है।

सच तो यह है कि जीवन में मुख्यतया है ही एकाकीपन। जिन्होंने इसमें रस लेना नहीं सीखा, उन्होंने जीवन में कुछ नहीं सीखा। उनकी शिक्षा व्यर्थ गई! प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन का सच्चा साथी चुनता है किन्तु विरले ही हैं जिन्हें अपने स्वप्निल संसार का सर्वगुणसम्पन्न साथी मिल जाय। सर्वांश में अनुकूल साथी मिलना कठिन ही नहीं असम्भव है। अतः मनुष्य का असली साथी मनुष्य स्वयं ही होता है। अपने में रमने वाला व्यक्ति ही स्थिर आनन्द की तृप्ति लेता है। स्थिर आनन्द पाना ही जीवन का लक्ष्य है। जिसने अकेले रमना सीख लिया उसने अपना लक्ष्य पा लिया, वह अपने स्वरूप को पहिचान गया। यही चरित्र-निर्माण का लक्ष्य है। चरित्रवान् व्यक्ति ही सच्चे अर्थों में एकान्तप्रिय हो सकता है।

एकाकीपन का यह अर्थ नहीं कि आदमी आंखें फोड़कर अन्धा हो जाय या कानों के परदे छेदकर बहरा बन जाय। टांगें तोड़कर समाधिस्थ या अन्धे होकर प्रज्ञाचक्षु हो सकते तो दुनियां के लंगड़े-लूले और अन्धेकाने सब से पहले आत्मज्ञानी होते। अपनी प्रवृत्तियों की सम्यक् व्यवस्था करके उन्हें अपनी आत्मा में केन्द्रित करना ही सच्चा आत्मबोध है। एकान्तप्रिय वही होगा जिसे यह आत्मबोध होगा।

विचार और चरित्र

'जैसा विचार करोगे वैसा बन जाओगे'—इस उक्ति में गहरा सत्य

छिपा है। गौतम बुद्ध ने यही कहा था। ईसा मसीह ने भी यही कहा था।[1] विचारों में वही निर्माण-शक्ति है जो किसी भी अन्य दैवी शक्ति में है। इस शक्ति की कोई सीमा नहीं। हम अपनी आंखों से जो कुछ देखते हैं उसका चित्र हमारे मन के परदे पर खिंच जाता है। सम्पूर्ण विश्व की छवि हमारे मानसिक पट पर खिंची रहती है। किन्तु वह छवि जो कुछ हम देखते हैं उससे भिन्न होती है। क्योंकि मनुष्य स्वयं कलाकार है, अपनी प्रतिमा से वह उस चित्र में जैसा चाहे परिवर्त्तन कर लेता है। यह चित्र मनुष्य की प्रसुप्त चेतना में हर क्षण बना रहता है और उसके विचारों को प्रभावित करता रहता है। इस चित्र में मनुष्य की कल्पना जब तीव्र विचारों से जाग कर दृढ़ इच्छाशक्ति द्वारा प्रेरित होती है तब यही कल्पना मूर्तिमान बन जाती है और मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता बन जाता है। इसीलिये हम कहते हैं कि विचार ही मनुष्य की प्रेरक शक्ति है और विचार ही मनुष्य का भाग्य-निर्माता है।

विचारों में निर्माण-शक्ति

विचारों द्वारा यह निर्माण कार्य एक क्षण में नहीं होजाता। साधारण व्यक्ति अपनी कल्पना में चित्रों का निर्माण करता है किन्तु अपनी इच्छा-शक्ति को इतना प्रबल नहीं बना पाता कि वह कल्पना को साकार कर सके। अपनी मंज़िल तक पहुंचने से पहिले ही वह हिम्मत हार जाता है। उसके विचारों की शक्ति बहुत क्षीण होती है। इस शक्ति को बड़े प्रयत्न से सिद्ध करना चाहिये। बिखरे हुए विचारों में निर्माण-शक्ति नहीं होती। उन्हें एक बिन्दु पर केन्द्रित करने के बाद ही उनमें यह शक्ति आती है।

इस निर्माण-शक्ति के संचय के लिये मनुष्य को प्रतिदिन एकाग्र होकर यत्न करना चाहिये। एक आदर्श के लिये विचारों को एकाग्र करना युद्ध के लिये सैन्यसामग्री को एक स्थान पर जमा करने के

1. As a man thinketh in his heart so is he.

समान है। जिस तरह पानी की बूंदें एक ही स्थल पर गिरती हुईं पत्थर को भी तोड़ देती हैं, उसी तरह विचारों की निरन्तर एकाग्रता संसार की प्रत्येक बाधा का मानमर्दन कर सकती है।

विचारों का केन्द्रीकरण

बिखरी हुईं सूर्य की किरणें किसी वस्तु को नहीं जला सकतीं—किन्तु शीशे की सहायता से केन्द्र-बिन्दु पर प्रतिबिम्बित हुईं २ वही किरणें एक क्षण में लोहे को भी पिघला देती हैं। विचारों के केन्द्रीकरण में भी यही शक्ति होती है। हमें अपनी मानसिक शक्तियों को एक ही बिन्दु पर केन्द्रित करना चाहिये। अभ्यास से यह शक्ति विकसित की जा सकती है।

गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है "ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।" विषयों के चिन्तन से ही मनुष्य की संगति विषय भोग में होती है। शुभचिन्तन से मनुष्य की संगति शुभ कार्यों में होगी। यह चिन्तन ही मनुष्य को कर्मों में प्रवृत्त करता है। यूरोप के विख्यात दार्शनिक एमर्सन ने इन्हीं विचारों को बड़े सुन्दर शब्दों में लिखा है[1]:

"विचारों को स्वतन्त्रता दीजिये, विचार कामनाओं का रूप पकड़ लेंगे; कामनाओं को स्वतन्त्र मार्ग दीजिये कार्य में परिणित हो जांयगी; कार्यों को स्वतन्त्रता दीजिये आदतें बन जयंगी; आदतें ही कुछ दिन बाद चरित्र के रूप में प्रगट होंगी; वही चरित्र मनुष्य के भाग्य का निर्माण करेगा।"

---

1. "Allow the thought it may lead to choice;
Allow the choice it may lead to an act;
Allow the act it forms the habit;
Continue the habit it shapes your character;
Continue the character it shapes your destiny.

विचारों द्वारा भाग्य-निर्माण

भाग्य-निर्माण का यह कार्य विचारों से ही प्रारंभ होता है। विचारों की नींव पर ही कार्यों का भवन खड़ा किया जाता है। संसार में कोई भी काम अचानक नहीं होता। नाही संयोगवश कोई घटना घटती है। जिस प्रकार पौधा बीज में छिपा होता है, उसी तरह हमारे कार्य हमारे विचारों में रहते हैं। जो काम हम खूब सोच विचार करते हैं—, दोनों ही काम बीज रूप से हमारे विचारों में पहले से विद्यमान होते हैं।

सुविचारों की खेती

हमारा मस्तिष्क एक ऐसी उपजाऊ भूमि है जहां कुछ न कुछ अवश्य उगना है। यदि हम वहां कुशलता से फल-फूल लगायेंगे तो फुलवाड़ी लग-जायगी, कांटों की झाड़ियां लगायेंगे तो कांटे पैदा हो जायंगे। और यदि प्रमादवश यों ही पड़ा रहेगा तो हमारे न चाहते हुए भी वहां कंटीली घास उग आएगी और निरुपयोगी पौधे सारी भूमि पर छा जायंगे। हमारा मन कभी शून्य भाव में स्थिर नहीं रहता। वह प्रतिक्षण अपनी परिस्थितियां स्वयं बनाता रहता है। अपने निरन्तर प्रयत्न से यदि हम उसमें सुविचारों की खेती नहीं करेंगे तो कुत्सित विचारों का जंगल पैदा हो जायगा।

क्षणिक आवेश का कोई अर्थ नहीं

जीवन की व्यवस्था में अकस्मात् कोई बात नहीं होती। जब मनुष्य कोई अपराध करता है तो केवल क्षणिक आवेश के वश में ही नहीं करता। हम प्रायः सुना करते हैं कि उस व्यक्ति ने क्षणिक आवेश में आकर खून कर दिया। यह कथन सर्वांश में सत्य नहीं है। जो व्यक्ति किसी हत्या की दुर्भावना को देर तक मन में स्थान देता है वही हत्या कर सकता है। गुप्त रूप से हत्या की भावना मन में होगी तभी हत्या-कार्य होगा अन्यथा बड़े से

बड़ा आवेश भी मनुष्य को हत्या के लिये तैयार नहीं करेगा। यदि कोई मनुष्य मदिरालय में जाकर शराब पीता है या व्यभिचार करता है, तो यह कभी नहीं समझना चाहिये कि यह केवल उसका दुर्भाग्य ही है या परिस्थितियों ने उसे व्यभिचार करने को मजबूर कर दिया है। परिस्थितियां ही मनुष्य के चरित्र को बनाती या बिगाड़ती नहीं हैं—बल्कि मनुष्य के विचार ही परिस्थितियों का निर्माण करते हैं। मनुष्य अपने विचारों के अनुरूप संगति को ढूंढ़ लेता है। उसका वातावरण उसके विचारों के अनुकूल बन जाता है। तभी यह कहावत प्रसिद्ध है कि मनुष्य का चरित्र अपने संगी-साथियों और पुस्तकों से पहिचाना जाता है। परिस्थितियां एक काम अवश्य करती हैं। वे मनुष्य के सामने उसका भेद खोल देती हैं। जिसने अपने चरित्र की परीक्षा करनी हो वह अपने आसपास के वातावरण, संगी, साहित्य की परख करले, उसे अपने चरित्र का सच्चा स्वरूप मालूम हो जायगा।

प्रत्येक अपराध का इतिहास होता है

मनुष्य विचार करने में स्वतन्त्र है इसलिये वह अपने चरित्र को अपनी इच्छानुसार बनाने में ही स्वतन्त्र नहीं, बल्कि अपने वातावरण को भी अपनी इच्छा के अनुकूल बनाने में स्वतन्त्र है। संसारी जीवन-यात्रा में वह हर क़दम पर उन परिस्थितियों को अपने आस-पास बटोरता रहता है जो उसके चरित्रके अनुकूल होती हैं और उसके स्वरूप को प्रगट करती हैं। अतः विचारों के अन्तर्जगत् के अनुसार ही मनुष्य का बाह्यजगत् बनता है। अपने मन को बुरे विचारों में भटकने देने की आज़ादी वही आदमी देगा जिसे कुत्सित विचारों में ही आनन्द आयगा। विचारों में व्यभिचार का आनन्द लेने वाला व्यक्ति क्रिया में संयमी नहीं रह सकता। प्रथम अवसर पर ही वह पतित हो जायगा। पतन को आकस्मिक कह कर बहुत लोग अपने को धोखा दिया करते हैं। यह प्रायः आकस्मिक नहीं बल्कि

स्वाभाविक घटना होती है। ऐसे प्रत्येक अपराध के पीछे उसका इतिहास छिपा होता है।

विचारों का गुंजन

विचारों द्वारा चरित्र-निर्माण की प्रक्रिया में एक बात और भी महत्त्वपूर्ण है। वह यह कि प्रत्येक विचार मनुष्य के मन व शरीर पर अपना स्थायी प्रभाव या एक गुंजन-सी छोड़ जाता है। इस गुंजन में एक आकर्षण रहता है। इस आकर्षण का व्यक्तिगत आकर्षण में बड़ा महत्त्व है। इस गुंजन के घनत्व में भी अन्तर होता है। निर्बल मनुष्य के निषेधात्मक विचारों के गुंजन का घनत्व बहुत कम होता है इसलिये उनका प्रभाव बहुत स्थायी नहीं होता। इसके प्रभाव से सबल व्यक्ति कभी आकर्षित नहीं होते। इसके विपरीत सबल व्यक्ति के विचारों का गुंजन न केवल अपने आसपास सबल व्यक्ति को खींचता है बल्कि वह विचारक के मन को और भी सबल बनाने में सहायक भी होता है। सबल विचारों का यह चुम्बकीय प्रभाव जीवन के हर क्षेत्र में प्रगट होता है। प्रत्येक व्यक्ति का विचार-वातावरण अपने विचारों के अनुरूप बन जाता है। यही मनुष्य का चरित्र या व्यक्तित्व होता है।

व्यक्तियों का ही नहीं, संस्थाओं या स्थानों का वातावरण भी इसी तरह बनता है। राष्ट्रों का भी अपनी विचार-परम्पराओं के अनुसार अपना वातावरण बन जाता है। हर घर का अपना चरित्र होता है जो घर के पति-पत्नी के अनुसार होता है।

वातावरण मनुष्य के विचारों का दर्पण है

चिन्तन तो मनुष्य एकान्त में, मन के गहरे परदे में छिपकर ही करता है किन्तु उसका प्रकाश स्वयं, चारों ओर फैल जाता है। वातावरण मनुष्य के विचारों का दर्पण है। जिस तरह एक एक बिन्दु से तालाब भरता है उसी तरह एक एक विचार से मनुष्य जीवन का भविष्य बनता है। विचारों का जैसा चुनाव करेंगे

भविष्य वैसा ही बन जायगा।

अच्छे दिनों की प्रतीक्षा में समय मत गंवाइये। जिस क्षण आप विचारों में उच्चता लाने का संकल्प करेंगे वही क्षण आपके जीवन का महत्वपूर्ण क्षण बन जायगा। किसी भी रचनात्मक विचार-सरणी का चुनाव कर लीजिये। उसके बीजों का वपन आप के अन्तस्तल की गहराई में शुरू हो जायगा। विचारों में ही जीने का अभ्यास कीजिये। आपका जीवन विचारमय हो जायगा। इस मानसिक क्रिया का प्रभाव स्वयं ही आपकी दैनिक चेष्टाओं में प्रकट होने लगेगा। विचार कभी प्रभावशून्य नहीं रहते, प्रभाव प्रगट होने में देर भले ही हो जाय।

अन्तर्मुख होना आदर्शों के निकट जाना है

विचारों में ही जीने का दूसरा नाम अन्तर्मुख होना है। अन्तर्मुख होते ही आपके अभीष्ट आदर्शों का चित्र आप के मानसपटल पर खिच जायगा। चित्र की रेखायें जब अधिक स्पष्ट होने लगेंगी तो बाह्य जगत् में भी वही रूप स्पष्ट होने लगेगा और आप सदैव अपने को अपने आदर्शों के समीप पायेंगे। हमारा भाग्य विचारों से ही बनता है। यदि हम अपनी आत्मा की गहरी खान में खोज करें तो हमें जगत् का प्रत्येक सत्य अपने से संबन्धित मालूम होगा। यही सत्य है। हम भी विश्व की आत्मा के ही अंश हैं। विषय-भोग-की लालसा में हम इस सचाई को भूल जाते हैं। विचार-जगत् में आकर हम फिर विश्वात्मा के निकट पहुंच जाते हैं। जिज्ञासु होकर ही मनुष्य ज्ञान-मन्दिर में प्रवेश पाता है। दरवाज़ा खटखटाने वाले के लिये ही दरवाज़ा खुलता है।

परिस्थितियों से युद्ध करने का अर्थ

आप पूछेंगे कि यदि मनुष्य अपने विचारों से अपनी परिस्थितियों को स्वयं बनता है तो परिस्थितियों से युद्ध करने का अर्थ क्या है? इस का अर्थ यह है कि मनुष्य बाह्य परिस्थितियों से जो विद्रोह प्रगट करता है वह सच्चा विद्रोह नहीं है। अपने मन में वह उन

परिस्थितियों के कारणों को ही सुरक्षित रखकर पनपने देता है। उन कारणों से विद्रोह करने का साहस उसे नहीं होता। यही मनुष्य की निर्बलता है। यही निर्बलता उसके प्रयत्नों को निष्फल बना देती है।

कांटे बीज कर फूल पाने की आशा

हम दरिद्रता से घृणा करते हैं किन्तु दरिद्रता के कारणों को अपनाये रहते हैं। आलस्य को दूर नहीं करते, काम से जी चुराते हैं और चाहते हैं कि दरिद्रता स्वयं दूर हो जाय। हम बबूल के बीज ज़मीन में बोकर फूलों की आशा रखते हैं। सुख की चाह सब को है किन्तु जीवन में दुख के बीज बोकर हम सुख नहीं पा सकते। विचारों और कार्यों में यह विरोध हमें जीवन में सफल नहीं होने देता। हम स्वास्थ्य चाहते हैं किन्तु जिह्वा का लोभ नहीं छोड़ सकते। स्वास्थ्य के लिये हम हज़ारों रुपये खर्च कर देंगे किन्तु स्वादु भोजन का लालच नहीं छोड़ेंगे। विचारों की काल्पनिक उच्चता ही हमें उत्कृष्ट नहीं बनाती, हमारे कार्य भी वैसे ही ऊँचे होने चाहियें।

विचारशील भी दुखी होते हैं ?

दुनिया में बहुत से उदाहरण ऐसे हैं कि मनुष्य विचारवान् होने पर भी दुःखी और विचारहीन होने पर भी सुखी नज़र आते हैं। इन उदाहरणों से यदि यह परिणाम निकाला जाय कि विचारशीलता दुःखजनक और विचारहीनता सुखजनक है तो यह भूल होगी। वस्तुतः सुविचार और कुविचार में भेद करने में ही हम प्रायः भूल कर जाते हैं।

संसार में शुभ और अशुभ, पाप और पुण्य आपस में इतने उलझे हुए हैं कि दोनों में दोटूक निर्णय करना असंभव कार्य है। बाह्य दृष्टि से पतित दिखाई देने वाला व्यक्ति ही बहुत बार इतना सुखी सिद्ध होता है कि हम चकित रह जाते हैं। उसको उसके दुर्गुणों से नहीं बल्कि गुणों से सफलता मिलती है। बेईमान आदमी में भी

अनेक ऐसे गुण होते हैं जो ईमानदार में नहीं होते; और ईमानदार आदमी में ऐसे दुर्गुण होते हैं जो बेईमान में नहीं होते। ईमानदार आदमी को अपने सद्गुणों का अच्छा इनाम अवश्य मिलेगा किन्तु अपने दुर्गुणों के अनिष्ट परिणाम से भी वह बच नहीं सकेगा। कुदरत के कानून किसी का पक्ष नहीं लेते। मनुष्य मनुष्य को धोखा दे सकता है, कुदरत की आंखों में धूल नहीं झोंकी जा सकती।

शुभ कर्मों से अशुभ फल नहीं निकलेगा

हमें इस सचाई को कभी नहीं भूलना चाहिये कि अच्छे काम कभी बुरा परिणाम नहीं ला सकते। गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन को बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा था: "न हि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गति-तात गच्छति।" कल्याण करने वाला कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। अनाज के बीज से बबूल का पौधा कभी पैदा नहीं होगा। धरती कैसी ही खराब हो, फूलों के बीज से कांटों की खेती नहीं हो सकती; और धरती कितनी ही अच्छी हो, बबूल के बीज से अनाज के अंकुर पैदा नहीं होंगे। अच्छे विचार कभी बुरे कामों का परिणाम पैदा नहीं करेंगे।

मनुष्य को जब दुख भोगना पड़ता है तो उसे समझ लेना चाहिये कि उसके विचारों में अवश्य कहीं भूल हुई है, वह कहीं भटक गया है, जीवन के सच्चे नियमों का उल्लंघन कर गया है। परिस्थितियों में विषमता भी विचारों की उलझन से ही पैदा होती है। सीधे, स्वच्छ विचार कभी जीवन को विषम और जटिल नहीं बनाते। हमारे सुख और दुख ही हमारे विचारों के मापक हो सकते हैं। सच्चे अर्थों में विचारशील व्यक्ति दुखी नहीं हो सकता।

सच्चा विचारक कौन है?

सच्चा विचारक वही है जिसका हृदय घृणा, कामवासना और अभिमान से रहित हो। ऐसा विचारक संसार को निर्दोष नेत्रों से देखने लगता है। उसके हृदय में अखंड प्रेम की ज्योति जलती रहती है। घोरतम शत्रु भी उसके दिल में शत्रुता की भावना को नहीं जगाते। अपने अपकारी के लिये भी वे सदा

सहानुभूति, दया, क्षमा के कोमल भावों से भरे रहते हैं। विषाद और विद्वेष की आग से उनका हृदय कभी जलता नहीं है। पर्वतों के आंचल में स्थित सरोवर की तरह उनका मन सदा शान्त रहता है।

सच्चा विचारक सदा आत्मतृप्त रहता है। उत्तेजना, चिन्ता और भय की आंधियां उसके आत्मस्थ मन को चंचल नहीं बनातीं। अशान्त व्यक्ति कभी सबल नहीं होता। बाह्य बाधाओं से विचलित होने वाला व्यक्ति बहुत दुर्बल होता है। अपनी दुर्बलताओं से ही वह सदा थका-हारा सा रहता है। इन दुर्बलताओं पर केवल विचार द्वारा ही विजय पाई जा सकती है। विचारों को सुविचारों से ही बलशाली बनाया जा सकता है।

एकाग्रता की शक्ति

विचारों में शक्ति तभी आती है जब विचारों का प्रकाश एक ही बिन्दु पर केन्द्रित किया जाय। लक्ष्य का निश्चय करके एकाग्र मन से ही उसका साधन हो सकता है। उपनिषदों में कहा है

"प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा
लक्ष्यवत्तन्मयो भवेत्"

अर्थात्, ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये प्रणव के धनुष पर आत्मा का बाण रखकर लक्ष्य के साथ तन्मयता बनाकर ही मनुष्य लक्ष्य का वेधन कर सकता है। लक्ष्य के साथ तन्मयता बनाना ही मन का एकाग्र बनाना है। जब मन में अपने लक्ष्य के अतिरिक्त कोई ध्यान न रहे—तभी एकाग्रता आती है। तीरन्दाज़ अपने निशाने को तभी बेध सकता है जब उसकी आंखें अपने लक्ष्य के अतिरिक्त कुछ भी न देख सकें। यह एकाग्रता निरन्तर अभ्यास से आती है। यह भी एक कला है। इसकी साधना प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। साधना की शक्ति प्रत्येक मनुष्य की अन्तरात्मा में रहती है। अन्य उपकरणों की इसमें कोई आवश्यकता नहीं। मन का संयम आत्मा की आन्तरिक शक्ति से ही संभव है। मन का संयमित संकल्प ही आत्मबल बन

जाता है। संसार की कोई भी शक्ति इस आत्मबल या मनोबल का सामना नहीं कर सकती। आत्मबली व्यक्ति स्वेच्छा से सब काम कर सकता है। यह मनोबल केवल अध्यात्म क्षेत्र में सहायक नहीं होता बल्कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यह मनुष्य को सफलता देता है।

एकाग्रता भी कला की साधना है

एकाग्रता का अभ्यास करना भी एक कला है। पहिलेपहल इस अभ्यास से मन में एक खिंचाव सा बना रहता है। किन्तु बाद में यह खिंचाव दूर हो जाता है। मन सहज ही एकाग्र बन जाता है। यह एकाग्रता लक्ष्य के प्रति मन में गहरी दिलचस्पी के बिना सिद्ध नहीं होती। अतः एकाग्र होने से पूर्व मन में लक्ष्यप्रेम का होना आवश्यक है। उदासीन मन कभी एकाग्र नहीं होगा। उदासीनता प्रायः निराशा और प्रमाद से जीवन के प्रति उदासीन बना देती है, उपेक्षित बना देती है। यह उपेक्षा एकाग्रता की शत्रु है। एकाग्रता के अभ्यास से पूर्व इस अनमनेपन को दूर करना होगा। प्राप्तव्य वस्तु के प्रति दृढ़ इच्छाशक्ति को जागृत करना होगा। ज्ञान की प्राप्ति उसे ही होती है जो सच्चे जिज्ञासु होते हैं। जीवन के ऊंचे-नीचे, टेढ़े-मेढ़े जटिल रास्तों से वही गुज़रते हैं, जो जीवन से प्रेम करते हैं। अन्यमनस्क व्यक्ति किसी भी काम को सफलतापूर्वक सम्पन्न नहीं कर सकता।

स्मृति-शक्ति का महत्व

स्मृति शक्ति का ह्रास भी तभी होता है जब मनुष्य उदासीन हो जाय। विचारक होने के लिये स्मरण शक्ति का चुस्त रहना भी अनिवार्य है। इस शक्ति की प्राप्ति भी तभी होगी जब मनुष्य अपने और अपने आसपास की चीज़ों में सच्ची दिलचस्पी लेगा। सच्ची दिलचस्पी लेने वाला ही अपनी परिस्थितियों की परख कर सकता है और अपने लिये अपने अनुकूल नया वातावरण पैदा कर सकता है।

मनुष्य का अर्धचेतन मन इन अगली-पिछली स्मृतियों का एक अमरकोष सा बन जाता है। जीवन की सब घटनायें उसमें चित्रित हो जाती हैं। कुछ ऐसी घटनायें भी उस पर असर छोड़ जाती हैं जो चेतनमन के निकट भी नहीं जातीं। इसलिये मनुष्य का प्रसुप्त मन उसके चेतन मन से अधिक प्रभावशाली होता है। हमारे मस्तिष्क को ऐसा अभ्यास होना चाहिये कि हम अपने स्मृति-कोश का परदा खुलते ही सब संस्मरणों के प्रवाह में न बह जायं बल्कि ऐसे ही संस्मरणों को मन में लायं जो हमारे मानसिक स्वास्थ्य के लिये लाभदायक हों।

स्मरण शक्ति में वृद्धि का सच्चा उपाय यही है कि हम अपनी परिस्थितियों के साथ प्रेम का व्यवहार करना सीखें; उन्हें अपनी दिलचस्पियों का विषय बनायें। जो व्यक्ति अपने आसपास की चीजों से प्रेम का संबन्ध नहीं जोड़ सकता, वह दूर की चीजों से कैसे प्रेम करेगा? निकट की वस्तुओं के प्रति उदासीन रहकर दूरस्थ वस्तुओं में मन लगाना मन की विकृत अवस्था का द्योतक है। स्वाभाविक यही है कि हम अपनी परिस्थितियों से प्रेम करना सीखें।

परिस्थितियों से प्रेम कीजिये

विचार और स्वास्थ्य

शरीर में मन मुख्य है, शरीर गौण। मन में कुत्सित विचारों के पैदा होते ही शरीर का स्वास्थ्य बिगड़ना प्रारम्भ हो जाता है। मन को उपयोगी कार्यों में लगाए रखना स्वास्थ्य प्राप्त करने की पहली सीढ़ी है। नदी की प्रवहमान धारा की तरह हमारे काम सरलस्वाभाविक रूप से होते रहें तो स्वास्थ्य बहता हुआ आकर स्वयं हमारे चरण धोयेगा। रोगी होना शरीर का स्वभाव नहीं है। रुग्णता, प्रकृति नहीं, विकृति है। रोगी व्यक्ति कभी धर्मात्मा नहीं हो सकता। आध्यात्मिक उन्नति की पहली शर्त शारीरिक स्वास्थ्य है।

प्रसिद्ध वचन है "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"। शरीर ही धर्म का प्रथम साधन है। शरीर की थकान से पहले मनुष्य का मन थकता है। शरीर के रोगी होने से पहले मनुष्य का मन रोगी होता है। इसलिये हमें मानसिक क्लान्ति पर विजय पाने का उद्योग करना चाहिये। विचारों में स्वास्थ्य पाने का यत्न करना चाहिये। जब तक चरित्र में अवगुण रहेंगे, आदर्श स्वास्थ्य की आशा व्यर्थ है। कुविचार मानसिक विकार हैं और चूंकि शरीर मन का अनुयायी है, मानसिक विकार शरीर को विकृत करते रहते हैं।

आज का मानव नाना प्रकार की अहितकारी इच्छाओं और कुविचारों से अशान्त रहता है। ये कुविचार ही रोग का कारण बन जाते हैं। मनुष्य विलासिता की जगमगाती चीजों को देखते हैं। उन्हें पाने के लिये उतावले होते हैं। एक के बाद दूसरे के पाने की चाह रहती है। इस प्रकार इच्छाओं की अनावर्त्त तारतम्यता बन जाती है। परिणाम यह होता है कि वह न तो भरपेट भोजन करता है और न सन्तोष की नींद लेता है। एक थकान-सी शरीर की नस-नस में भर जाती है। इस थकान से मानव जीवन का जितना क्षय होता है उतना प्लेग व हैजा से नहीं होता। पशुओं का जीवन भी हमसे अधिक शान्त है। पशु भोजन पाने के बाद सुख से सोता है परन्तु मनुष्य सदा अशान्त रहता है। शरीर मन का ही प्रतिबिम्ब है। शरीर को मन की आज्ञा माननी पड़ती है। चतुर चिकित्सिक सदैव शारीरिक अव्यवस्था का कारण मन में ढूंढेगा। जैसे विचार होंगे वैसा शरीर बन जायगा। कुविचारों का विष मन तक ही सीमित नहीं रहता। वह शरीर के अवयवों में भी फैल जाता है।

शरीर के प्रति उदासीन रहने वाले सन्त-साधु मानसिक निश्चेष्टता भले ही पावें, मानसिक आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते। इसी तरह मानसिक शान्ति के प्रति उपेक्षित रहने वाले व्यक्ति कभी शारीरिक स्वास्थ्य को नहीं पा सकते।

चरित्र-निर्माण ऐसा निर्माण-कार्य नहीं जैसे चित्रकार चित्र का निर्माण करता है या मूर्तिकार मूर्ति को सुधार नहीं, निर्माण— वह कर बनाता है। जिस भगवान् ने अपने अंश से मनुष्य रूप में अपनी सुन्दरतम कला की सृष्टि की है, उसने मनुष्य-चरित्र का भी निर्माण किया है। मनुष्य को अपने चरित्र में ईश्वरीय गुणों का सौन्दर्य विरासत में मिला है। हमारे शास्त्रों में मनुष्य को ईश्वर का वरद्पुत्र कहा गया है। इसलिये चरित्र-निर्माण का अर्थ किसी अभाव की पूर्ति से नहीं है। स्वभाव से ही मनुष्य दिव्य चरित्र वाला है। जैसे फूल जन्म से ही रंग और रूप की सजावट लेकर आता है वैसे ही मनुष्य भी दिव्यता लेकर अवतरित होता है। वह प्रकृति से ही सच्चरित्र होता है। किन्तु, हमारी सामाजिक व्यवस्था दोषपूर्ण है। व्यक्तिगत रूप से मनुष्य प्रायः सदा सच्चरित्र रहता है परन्तु सामाजिक संगठन में बंधते ही वह स्वार्थी, लोलुप और शोषणप्रिय हो जाता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसके व्यक्तित्व का एक ओर उसकी व्यक्तिगत आत्मा से मिला हुआ है तो दूसरा ओर सम्पूर्ण जन-समाज से बंधा हुआ है। समाज के नियम उसके व्यक्तित्व को जटिल बना देते हैं। उसमें हिंसा, प्रतिहिंसा, स्वार्थ, शोषण, आदि अनेक प्रवृत्तियां जागृत हो जाती हैं। ये प्रवृत्तियां उसके चरित्र को निष्कलंक नहीं रहने देतीं। इनके प्रभाव से वह अछूता नहीं रहता। उसका चरित्र भी इन विविध रंगों में रंगा जाता है। 'चरित्र-निर्माण' का उद्देश्य इन प्रभावों से चरित्र को दूषित होने से बचाना है। समाज की विषैली हवाओं से मनुष्य के चरित्र की रक्षा करने का कार्य भी 'चरित्र-निर्माण' का उद्देश्य है।

जिस तरह स्वास्थ्य की निरन्तर चिन्ता से स्वास्थ्य का निर्माण नहीं होता उसी तरह चरित्र की निरन्तर चिन्ता से चरित्र का निर्माण नहीं होता। वह चिन्ता चरित्र की शत्रु बन जाती है। निर्माण का काम प्रकृति के हाथ में छोड़कर हमें केवल दूषित वातावरण से उसकी रक्षा करने का कार्य करना चाहिये।

कुछ लोग मनुष्य के अवगुणों को दूर करना ही चरित्र-निर्माण का अभिप्राय समझते हैं । मैं उनसे भी सहमत नहीं हूं । मैं अवगुणों की पृथक् सत्ता नहीं मानता । गुणों के अभाव से पैदा हुए रिक्त स्थान को ही हम अवगुण कह देते हैं । गुणों की विद्यमानता में वह रिक्त स्थान स्वयं भर जाता है । अवगुणों को दूर करने की चिन्ता से अवगुण दूर नहीं हो सकते । ऐसी चिन्ता मनुष्य के मन को बार बार अवगुणों की ओर आकर्षित करती है जिससे अवगुणों का एक काल्पनिक चित्र काल्पनिक होते हुए भी इतनी गहरी रेखाओं में खिंच जाता है कि उसे दूर करने में हम असमर्थ होजाते हैं ।

झूठ के अवगुण से युद्ध करने का तबतक कोई अर्थ नहीं जब तक हम उसके स्थान पर सत्य की स्थापना नहीं कर देते । हिंसा को दया से और असत्य को सत्य से ही जीता जा सकता है । इसलिये हमें असत्य और हिंसा की काल्पनिक मूर्त्तियों से युद्ध करने के स्थान पर सत्य और प्रेम के बीज मनुष्य की आत्मा में बोने का उद्योग करना चाहिये । बीज रूप से ये गुण आत्मा में रहते ही हैं—केवल प्रतिकूल अवस्थाओं में उन्हें नष्ट होने से बचाना ही चरित्र-निर्माण का अर्थ है ।

हमें आवश्यकता है चरित्र-निर्माण की न कि चरित्र-सुधार की । सुधार का काम तो तभी होगा जब निर्माण का काम पूरा हो जाए और निर्माण यदि सच्चे अर्थों में हुआ है तो सुधार की आवश्यकता ही नहीं रहती । सत्य का सच्चा अभ्यास करने के बाद असत्य का कलंक धोने की आवश्यकता ही नहीं रहती । जब हम प्रेम को जीवन का अंग बना लेंगे तो द्वेष भावना का अस्तित्व ही नहीं रहेगा ।

प्रेम में ओतप्रोत होजाइये, द्वेष स्वयं नष्ट हो जायगा । सत्य की साधना कीजिये, झूठ का विचार ही पैदा नहीं होगा । गुण सीखिये अवगुण स्वयं लुप्त होजायंगे जैसे प्रकाश के आने पर अंधेरा भाग जाता है ।

सफलता की कुंजी

चरित्र-निर्माण कोई ऐसी कला नहीं है जिसकी साधना "स्वान्तः सुखाय" हो। चरित्र, जीवन के किसी आंशिक गुण का भी नाम नहीं है, यह तो सम्पूर्ण जीवन का नाम है। जीवन का निर्माण ही चरित्र-निर्माण है। जीवन सफलता ही चरित्र की सफलता है। सफलता ही इसकी कसौटी है। और सफलता के उद्देश्य से ही जीवन के सब प्रयत्न किये जाते हैं।

जिस क्षण मनुष्य कोई इच्छा करता है उसी क्षण उसके विचार-जगत् में तथा बाह्य वातावरण में एक प्रकम्पन सा पैदा हो जाता है, ठीक उसी तरह जैसे प्रशान्त पानी में पत्थर के गिरने से होता है। प्रकम्पन की ये धारायें चारों ओर के वातावरण में लहरें बन कर फैलना शुरू कर देती हैं मानों मनुष्य की इच्छा ही मूर्तिमान होकर अपना विस्तार कर रही हो। इच्छा स्वयं चेतन धारा है—जड़ पाषाण नहीं। ये प्रकम्पन अन्य प्रकम्पनों की सृष्टि करते हैं और उनसे मिलकर तथा किनारे के आघात-प्रत्याघातों से विक्षुब्ध होकर आकाश-चुम्बी ज्वारभाटा का रूप धारण करलेते हैं। इन संचित प्रकम्पनों में इतनी शक्ति पैदा होजाती है कि दुनिया की बड़ी २ बाधाएं भी सिर झुका देती हैं।

इसी तरह मनुष्य अपनी इच्छा से अपने अभीष्ट को पा लेता है। वह जो चाहता है पालेता है, जैसा चाहता है बन जाता है। मनुष्य की इच्छा के इन प्रकम्पनों में ऐसा चुम्बकीय खिचाव होता है कि एक प्रकम्पन दूसरे को आकर्षित करता रहता है। दुनिया का कोई भी खिचाव अकेला नहीं होता। आकर्षण सदा परस्परापेक्षी होता है। आप किसी वस्तु को चाहें इससे पूर्व उसमें आपकी चाह विद्यमान होनी चाहिये। किसी वस्तु में अपना अंश होने पर ही वह अभीष्ट बनती है। "आत्मैव कामायवै सर्वं प्रियोभवति" अन्यथा उसने आपके मन में उसे अपना बनाने की इच्छा ही क्यों जागृत की? आपकी मानसिक और भावना-शक्ति आपकी अदम्य कामना में केन्द्रित

होती है, उसके बाद अपने प्रयत्न से आप उसे प्राप्त कर लेते हैं।

प्रयत्न की कोई भी दिशा हो, सफलता उसी मनुष्य को मिलती है जो प्रत्येक क्षण अपने निर्माणोन्मुख विचारों में उत्साह और जीवन भरता रहता है। कार्यक्षेत्र कोई भी हो सकता है। सफलता के साथ कार्यक्षेत्र के रूप का कोई सम्बन्ध नहीं है। महत्वपूर्ण बात यह नहीं है कि आपका व्यवसाय कौनसा है बल्कि यह है कि आप अपना कार्य कितनी लगन से करते हैं? सच्ची लगन में निराशा का कोई स्थान नहीं और अक्षमता की कल्पना भी नहीं। अक्षमता का विचार मनुष्य की प्रगति को रोक कर उसे निश्चेष्ट बनाता है। चिन्ताशील मनुष्य बहुत शीघ्र हतोत्साह होकर निर्बल हो जाता है। उसकी चिन्तातुरता उसके अविश्वासी हृदय की बीमारी है। अविश्वासी और मन्द साहसी व्यक्ति जीवन में सफल नहीं होता।

सफलता की पहली शर्त यह है कि आप अपनी असंभव को संभव बनाने की क्षमता पर कभी अविश्वास न करें। विश्वास के बिना हर काम कठिन है। आपके मन का विश्वास ही आपकी मुश्किलों को आसान बना सकता है, कोई भी बाह्य शक्ति यह काम नहीं कर सकती। विश्वास की जलधारा के सामने बाधाओं की चट्टानें टूट कर बिखर जाती है।

जीवन का मार्ग बाधाओं की चट्टानों से पटा पड़ा है। इन बाधाओं को ही सीढ़ी बनाकर चढ़ने वाला व्यक्ति सफलता के शिखर पर पहुँच पाता है। उनसे घबराकर बैठने वाला व्यक्ति कभी आगे नहीं बढ़ सकेगा। सफलता का दीपक आपके अन्तःकरण की ज्योति से ही जलेगा, आपको अपने हाथों उसे जलाना होगा। अनुकूल अवसर का संकेत भी आपका अन्तःकरण ही आपको देगा। उस अवसर की प्रतीक्षा मत कीजिये। वह स्वयं नहीं आयेगा। अवसर की प्रतीक्षा करना निराधार सपने लेने के समान मिथ्या है। यदि आप दैव, भाग्य या अवसर पर ही भरोसा रखते हैं तो आप का जीवन असफलताओं और मानसिक

दुर्बलताओं से भर जायगा। प्रत्येक दैवीय घटना के पीछे मनुष्य का हाथ होता है। सफलता संयोग से नहीं, पुरुषार्थ से मिलती है। बीते समय पर आंसू बहाना कायरों का काम है। परिस्थितियों को कोसना अपने को धोखा देना है। इस रोने-धोने में शक्ति का अपव्यय मत कीजिये। हर नया दिन नयी आशाओं के साथ उदय होता है। हर असफलता नई सफलता के मार्ग को आसान बनाती है। कोई भी असफलता इतनी बड़ी नहीं कि वह आपकी सफलता पाने की योग्यता को छोटा करदे। आपका जीवन वह दीपक नहीं जो हवा के झोंकों से बुझ जाय। यह तो वह ज्वाला है जो आंधियों से लिपट कर आस्मान को ललकारती है।

आप अपने प्रतिदिन के कार्यों की असफलता से ही अपने को क्यों तोलते हैं? यह तो आपकी शिक्षा का समय है। जीवन के हर क्षण को अन्तिम परीक्षा का क्षण समझना भूल है। आपको जिस शिखर पर चढ़ना है, वह दूर है। जो कुछ आप कर रहे हैं वहीं तक आपका कार्य-क्षेत्र सीमित नहीं है। जीवन-यात्रा के हर पड़ाव को अन्त मत समझिये। इस यात्रा में कोई मुसाफिर सदा एक ही चाल से नहीं चल सकता। आज आपके क़दम भारी हैं तो कल हल्के होजायंगे। याद रखिये—आप दूर के यात्री हैं। आपको ऊँचा चढ़ना है। रास्ते की थकान को क्षणिक थकान ही समझिये। उसे कठिन बाधा समझकर बैठना पागलपन है। निरुत्साहित होने मात्र से आपके मार्ग की कठिनाइयां आसान नहीं होंगी। उत्साह बनाये रखिये। उत्साही मनुष्य थकता भी है, ठोकरें भी खाता है किन्तु बढ़ता ही जाता है। ऊँचे उद्देश्यों का आकर्षण उसकी नसों में नया रक्त भर देता है, नई शक्ति का संचय होता है और वह फिर परिवर्धित उत्साह के साथ अपनी मंज़िल की ओर बढ़ता है।

विजय और सफलता की चाह सब को है, किन्तु उसकी क़ीमत अदा करने वाले थोड़े ही हैं। सब लोग बिना मूल्य सफलता पाने

को उतावले हो जाते हैं। यह अधीरता विनाशक होती है । जीवन की यात्रा स्थिर बुद्धि और स्थिर कदमों से तय करनी चाहिये। अधीरता प्रायः आत्मविश्वास की न्यूनता से होती है। विश्वास की पूर्णता मनुष्य को स्थिरता सिखलाती है। आप अपनी क्षमता का जो मूल्य लगाएंगे, दुनिया भी आपको उसी मूल्य से जांचेगी। स्थितप्रज्ञ और संयत व्यक्ति अपने सन्मान को संसार की दृष्टि में ऊँचा रखता है। आत्मगौरव की इस भावना की झलक उसके नित्यप्रति के व्यवहार में भी स्पष्ट दिखाई देती है। उसका गौरवान्वित व्यक्तित्व संसार के लिये आकर्षण का विषय बन जाता है। दुनिया के लोग ऊँचे व्यक्तित्व की ओर खिंच आते हैं। यही यशस्वी मनुष्यों की उज्ज्वल कीर्ति का रहस्य है।

•सभी पदार्थ अपने समान-धर्म वस्तुओं को अपनी ओर अपनाते हैं—यही नियम है जिसके कारण एक चित्रकार आकाश में तैरते बादलों और रम्य प्रदेशों का सौन्दर्य देखकर मुग्ध होता है। कवि के लिये प्रकृति का हर रूप उसकी कविता का प्रतीक हो जाता है। निराश व्यक्ति के हृदय में वही दृश्य अन्धकार और उदासी की भावनायें जगाते हैं। ऐसे विकृतमना व्यक्ति की आत्मा उसके शरीर में कुचली और दबी सी पड़ी रहती है। बाधाओं और विघ्नों से हमें नया उत्साह और नई उमंग मिलनी चाहिये। आपके विघ्न अभिशाप नहीं, वरदान हैं। उन विघ्नों के रूप में प्रकृति हमें उल्टे रास्ते पर न चलने के लिये चेतावनी देती है। हमें उस चेतावनी के लिये कृतज्ञ होना चाहिये।

कमर कस कर जीवन-संग्राम में युद्ध करने को तैयार होजाइये। जो उपकरण आपके हाथ में हैं उनके प्रयोग के लिये अपनी शक्ति को केन्द्रित कर दीजिये। जो परिस्थितियां आपके चारों ओर हैं उनका अधिक से अधिक उपयोग करने लिये दत्तचित्त होजाइये। आपका कार्य-क्षेत्र ही आपका देवालय है। हाथ के काम को पूरे मन से, पूरी लगन से कीजिये। अपने उपयोगी कार्य को दिलचस्पी के साथ करना

ही सबसे बड़ा मनोरंजन है। इस कार्य द्वारा ही आप अपने को संसार में व्यक्त कर सकते हैं। यह अभिव्यक्ति ही मनुष्य का विकास करती है।

इस व्यापक विश्व में प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्थान है। जिसने अपने योग्य स्थान का ज्ञान पालिया, वह संसार की लहरों के साथ खेलता हुआ तैरता हुआ पार होजायगा और उसका जीवन संसार के लिये उपयोगी सिद्ध होगा। मनुष्य को चाहिये कि वह अपनी योग्यता को परख कर अपने अनुकूल कार्य का चुनाव करले। जिस काम में उसके गुणों का सबसे अधिक प्रदर्शन हो सके वही काम उसके योग्य है। एक बार अपना कार्य-क्षेत्र चुनकर उसे सफल बनाने के लिये तन-मन से लग जाना चाहिये। प्रत्येक पुरस्कार के लिये हमें मूल्य चुकाना होगा। हम जितनी कुर्बानी करेंगे उतना ही पायंगे। जहां कुर्बानी में आनन्द आये वही हमारा स्थान है। आनन्द-प्रेरित काम ही मनुष्य का विकास करता है। आनन्द से ही सब प्राणियों का जन्म होता है और आनन्द में ही विलोप [1]।

कभी इस भ्रम में मत पड़िये कि आप कभी किसी जादू, चमत्कार या दैवीय कृपा से किसी काम में सफलता पा सकेंगे। यश और सफलता के मार्ग की कोई पगडण्डी नहीं है। रास्ता काट कर आप थोड़े समय में वहां तक नहीं पहुंच सकते। यह भी सच नहीं है कि थोड़े से ईश्वरीय कृपापात्र व्यक्ति ही सफलता के शिखर तक पहुंच सकते हैं। ईश्वर की कृपा के पात्र सभी व्यक्ति होते हैं। उसका किसी पर अनुचित पक्षपात नहीं है? शिखर पर पहुंचने के लिये मनुष्य को साधनों की आवश्यकता है, उन्हें उसे स्वयं जुटाना पड़ता है।

सम्पूर्ण साधनों के होते हुए भी यदि आप सफलता के शिखर पर नहीं पहुंच पाते, तो भी दैव को कोसना उचित नहीं है। सच्चे हृदय से यात्रा करने में जो आनन्द है वही आनन्द शिखर पर पहुंचने

---

[1] आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते—उपनिषद्।

में है। सफलता किसी निश्चित स्थल का नाम नहीं है। यह तो केवल मन की अवस्था का नाम है। जिसकी मानसिक अवस्था स्वास्थ और आनन्दमयी है, वह असफल या निरानन्द हो ही कैसे सकता है? स्वास्थचित्त व्यक्ति कभी क्षणिक शोक-मोह आदि विकारों से प्रताड़ित नहीं होता। असफलता और निराशा उसके मानसिक सन्तुलन को कभी विचलित नहीं करती। उसे निश्चेष्ट नहीं बनाती।

विचार और ध्येय

प्रत्येक गतिशील वस्तु का कोई ध्येय अवश्य होता है। नदी का प्रवाह समुद्र में लीन होकर विश्रान्ति पाता है। विचारों की धारा का भी कोई ध्येय अवश्य होना चाहिये। निरुद्देश्य विचारों की उपयोगिता नष्ट हो जाती है। विचार करना मनुष्य के मस्तिष्क का धर्म है। कोई न कोई विचार मनुष्य के मन में उठता ही रहता है। किन्तु प्रत्येक विचार उपयोगी नहीं होता। उसे उपयोगी बनाने के लिये विचारों का केन्द्र बना लेना आवश्यक है। अन्यथा वह व्यर्थ की कल्पनाओं में घूमता रहेगा। इन कल्पनाओं में मनुष्य की विचार-शक्ति ही नष्ट नहीं होगी बल्कि वह जीवन के मार्ग में भी भटक जायगा। विचारों का असंयम उसे विषयी और कामान्ध बना देगा। अतः चरित्र-निर्माण की यह बहुत महत्वपूर्ण शर्त है कि विचारों को एक लक्ष्य पर केन्द्रित किया जाय।

प्रत्येक व्यक्ति को अपना ध्येय निश्चित करते हुए अपने साधन और अपनी परिस्थितियों की अनुकूलता का ध्यान रख लेना चाहिये। ध्येय के चुनाव से मेरा यह अभिप्राय नहीं कि मनुष्य अपने जीवन की धारा को संकरी दीवारों में बांधकर एक ही दिशा में ले चले; उस तरह, जैसे नदी के पानी को नहर में बांधकर बिजली पैदा करने के लिये एक ही दिशा में ले जाया जाता है। मनुष्य-जीवन की धारा को इस तरह दो दीवारों में बांधा नहीं जा सकता। यह बन्धन आत्मा के स्वभाव के प्रतिकूल है। मनुष्य की आत्मा उन्मुक्त रहना चाहती है।

स्वतंत्रता उसका धर्म है। अतः एक ही ध्येय का निश्चय करते हुए हमें स्मरण रखना चाहिये कि हमारी आत्मा पिंजड़े में कैद नहीं हो सकती।

हर आदमी को पर्वत के शिखर पर पहुँचने का ध्येय नहीं बनाना चाहिये। दूर से सुन्दर और ऊँची दिखने वाली हर चीज़ वस्तुतः उतनी सुन्दर नहीं होती। स्वर्ग आसमान में ही नहीं है। हर घर और हर मनुष्य का मन ही स्वर्ग बन सकता है। स्वप्न लेना बुरा नहीं किन्तु हर स्वप्न को सत्य बनाने के लिये पागल होना जीवन की शक्ति को नष्ट कर देता है।

भविष्य की आशाओं पर वर्तमान के छोटे-छोटे आनन्दों की कुर्बानी करना उचित नहीं है। ऊँचा ध्येय बनाकर जीवन के छोटे-छोटे सुखों की उपेक्षा करने से हम अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा करना शुरू कर देंगे। ध्येय कितना ही ऊँचा हो—हमें अपने वर्तमान के कर्तव्यों के पालन में शिथिलता नहीं करनी चाहिये।

जीवन की सफलता ऊँचे ध्येय तक पहुँचने में ही नहीं बल्कि मार्ग के कर्तव्यों को पूरा करते हुए शिखिर तक पहुँचने में है। महत्वपूर्ण बात यह नहीं है कि हम कौन सा कार्य करते हैं, या वह कितना महान् है बल्कि यह कि हम किसी भी काम को किस रीति से करते हैं। उपयोगी कामों में कोई भी काम छोटा नहीं है। काम की महत्ता या लघुता का माप उसकी उपयोगिता से ही जांचना चाहिये। सब काम प्रायः एक से महत्व के होते हैं। विशेषता केवल उन कामों को विशेष रीति से पूर्ण करने की रीति में है। मनुष्य का चरित्र उसके ध्येय की ऊँचाई से नहीं बल्कि उस ध्येय को पाने के तरीके से ही प्रगट होता है। ऊँचा ध्येय पाने के लिए मनुष्य यदि अधम उपायों का प्रयोग करता है तो ध्येय की ऊँचाई ही उसके चरित्र को नीचा गिरने से नहीं बचा सकती।

नवजीवन साहित्य

*कर्मयोग—[श्री र० र० दिवाकर, सचिव, रेडियो और सूचना-विभाग भारत सरकार]

भूमिका लेखक—विनोबा भावे

मोहग्रस्त और किंकर्तव्यविमूढ़ अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता द्वारा कर्मयोग का उपदेश दिया था जिसे सुनकर अर्जुन की विवेक-बुद्धि जागृत हुई और संग्राम में सफलता प्राप्त हुई। इस कर्मयोग की सरल, स्पष्ट व सारगर्भित व्याख्या योग्य लेखक ने इस पुस्तक में की है। संसार में रहते हुए, सभी साँसारिक कर्तव्यों को करते हुए भी मनुष्य योग-सिद्धि कैसे कर सकता है, इस स्फूर्तिदायक पुस्तक में पढ़िए। कर्मयोग' विषय पर पठनीय ग्रन्थ है, जिसका मनन करने से पाठकों को अवश्य लाभ होगा। मूल्य दो रुपया।

*साधना—[रवीन्द्रनाथ टैगोर]

मनुष्य जीवन साधना-रूपी यज्ञ है। जीवन उन्नत होगा निरन्तर साधना द्वारा। साधना किए बिना सफलता प्राप्त हो ही नहीं सकती। गुरुदेव टैगोर ने चिरन्तन साधना और आत्मानुभूति के पश्चात् 'साधना' लिखी। हमारे जीवन का जो सत्य-शिव-सुन्दर स्वरूप है, उसे समझने के लिए 'साधना' पढ़िए। भारतीय ज्ञान और संस्कृति के आधार पर आत्मा तथा परमात्मा, सुख तथा दुःख, प्रेम तथा कर्तव्य इत्यादि की सुन्दर विवेचना पढ़ कर मुग्ध हो जायेंगे। मूल्य दो रुपया।

***गीताञ्जलि**—[रवीन्द्रनाथ टैगौर]

'गीतांजलि' महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की वह अमर रचना है जिस पर उन्हें एक लाख बीस हज़ार रुपये का 'नोबेल-पुरस्कार' प्राप्त हुआ था। विश्व-साहित्य में गीतांजलि का स्थान बहुत ऊँचा है। इसमें जहाँ कवि की ऊँची उड़ान है वहाँ जीवन के सौन्दर्य को भी बड़े अनोखे दृष्टिकोण से देखा गया है। मूल्य दो रुपया।

***जीवन दर्शन**—[सत्यकाम विद्यालंकार]

विश्व-कवि खलील जिब्रान की अमरकृति "दी प्राफेट" का यह हिन्दी भाषान्तर है जिसका अनुवाद दुनिया की प्रायः सभी भाषाओं में हो चुका है। इसमें जीवन के विभिन्न पहलुओं पर दार्शनिक विचार हैं। मूल्य दो रुपया।

***प्रार्थना सुमन**—[विश्वनाथ एम० ए०]

जीवन को उन्नत करने के लिए प्रार्थना एक महत्वपूर्ण साधन है। 'प्रार्थना सुमन' में चुने हुए, सुन्दर वेदमन्त्रों के आधार पर भावपूर्ण प्रार्थनाएँ दी गई हैं। प्रत्येक प्रार्थना के अन्त में तदनुरूप एक मनोहर कविता दी गई है।

मूल्य आठ आना।

राजपाल एण्ड सन्ज़ : नई सड़क : दिल्ली